॥ ओ३म् ॥

वेदार्थ-कल्पद्रुमः

श्रीयुत स्वामि-करपात्रिकृत-'दयानन्दीय-मत-खण्डन-खण्डकः

प्रथमः खण्डः

प्रणेता

आचार्य विशुद्धानन्द मिश्रः शास्त्री

व्याकरणाचार्य-दर्शनवाचस्पति :

कुलपतिः गुरुकुल-विश्वविद्यालयस्य-वृन्दावनस्य

भारत-सर्वकार-मनोनीत-सदस्यः दिल्लीस्थ राष्ट्रीय-संस्कृत-संस्थानस्य

हिन्दी-रूपान्तर-विधायिका

श्रीमती निर्मला 'मिश्रा'

साहित्य-पुराणेतिहासाचार्या, एम० ए० (दर्शन-संस्कृतयोः) साहित्य-रत्नम्

प्राचार्या

पार्वती-आर्य-कन्या-विद्यालयस्य-बदायूंस्थस्य

सम्पादकः

सुरेन्द्रकुमार शास्त्री व्याकरण-साहित्याचार्यः

प्रकाशिका :

सार्वदेशिक-आर्य-प्रतिनिधि-सभा, नव-दिल्ली

प्रथमं संस्करणम्

दयानन्दाब्दाः १६०   १००० प्रतयः   विक्रमाब्दाः २०४१

प्रकाशिका :
सार्वदेशिक-आर्य-प्रतिनिधि-सभा
महर्षि दयानन्द भवन, रामलीला मैदान
नई दिल्ली

मूल्यम् : ६०)

पुस्तक-प्राप्ति-स्थानम् :
१. प्रकाशक-स्थानम्
२. आनन्द-मन्दिरं, कूंचा पांडा
वदायूं (उत्तर प्रदेश:)

मुद्रक :
चन्द्रमोहन शास्त्री
सैनी प्रिण्टर्स,
७११७, पहाड़ी धीरज, दिल्ली-६।

The Vedarth Kalpadrumah

A full-scale rejoinder to the The Dayanandiya Mata Khandanam from Shri Karapatiji's WorK, VEDARTHA PARIJATA

by
Acharya Vishuddhananda 'Mishra' Shastri
Vyakarnacharya, Darshan-Vachaspati etc.
Vice-Chancellor, Gurukul Vlshwa-vidyalaya, Vrindavan
Member (nominated) National Sanskrit Institute, New Delhi

Hindi translation
by
Smt. Nirmala 'Mishra'
Sahitya-Purana-Itihasa Acharya, M. A.
(Philosophy and Sanskrita), Sahitya Ratna
Principal P. A. K. V. (College,) Badaun (U. P.)

Editor
Surendra Kumar Shastri Vyakaran-Sahitya Acharya

Publishers :
Sarvadeshik Arya Pratinidhi Sabha
Ramlila-graund, New Delhi-110002 (India)

2041 1984

First Edition 1000 Copies

समर्पितिः

प्रातःस्मरणीय-मातृपितृपाद-पद्मेभ्यः

मातुःस्तन्येन साकं श्रुतिमधुविलसद् गानमापीय कामम् ।
शिक्षा-सन्दीक्षितः सन् पितृवर-चरणाम्भोज-सामीप्यमाप्य ॥
एतं ग्रन्थं प्रणेतुं यदमितकृपया स्वस्थ-सामर्थ्यमाधाम् ।
पित्रोः पद्भ्यो हि तेभ्यः प्रविनत-शिरसा श्रद्धया चार्पयेऽहं ॥

आत्मजः विशुद्धानन्दः

प्रातः स्मरणीय-पूज्या स्व० माता श्रीमती ललितादेवी

तथा

स्वर्गीय पूज्य पिता श्री पं० अयोध्याप्रसाद 'मिश्र'
वैद्य-भूषण के चरण कमलों में
वेदार्थ-कल्पद्रुम 'श्रद्धापुष्प'

समर्पण

स्नेहमूर्ति माँ के दुग्ध के साथ-२ उनकी श्रुतिमधुर-लोरी गान का यथेच्छपान कर, महर्षि के अनन्यभक्त परमपूज्य पिताजी के चरण कमलों की आराधना करके, जिनकी अपरिमित कृपा से मुझे जिस ग्रन्थ 'वेदार्थ कल्पद्रुम' के प्रणयन करने की स्वस्थ-सामर्थ्य प्राप्त हुई है ऐसे माता पिता के उन पावन चरण-कमलों में, उस (ग्रन्थ) को नतमस्तक श्रद्धाभाव से समर्पित करता हूं ।

आत्मज विशुद्धानन्द मिश्र

ग्रन्थकारः

आचार्य श्री विशुद्धानन्द-मिश्रः शास्त्री



वेद-ज्ञाननिधिः सुधीः शुचिमतिर्वेदाङ्ग-नद्यम्बुधिः ।
आनन्दान्त-विशुद्ध-मिश्र-पदवी नाम्ना धृता येन सः ॥
वेदार्थस्य फल-प्रदान-निरतः 'कल्पद्रुमा' न्निजकात् ।
सद्धर्मश्रुतिशास्त्र-चिन्तनफलं दद्यात् शतं शारदम् ॥

हिन्दी-विधायिका
प्राचार्या श्रीमती निर्मला 'मिश्रा' विविध-विषयाचार्या, एम. ए.



यल्लालिताः अनुदिनं शिशवश्च भृत्याः।
सम्भाषणे व्यवहरन्ति जनुः-प्रभृत्या॥
'कल्पद्रुम' स्य शुभ-सौरभमाकिरन्ती।
देवी सुसंस्कृतगिरा खलु 'निर्मले'यम्॥

प्रकाशकीय-वक्तव्य

वेदोद्धारक महर्षि-दयानन्द-सरस्वती ने ब्रह्मचर्यादितपःपूत योगमयी साधना द्वारा वेदों के निर्भ्रान्त सत्यार्थ प्रकाशित किये और प्रमाण तथा प्रखर तर्कों से महीधर-सायणादिकृत कदर्थ-भाष्यों के खण्डन एवं सुधार का अप्रतिम साहस किया।

नीरक्षीर-विवेकी विद्वानों ने ऋषि द्वारा प्रदर्शित, यास्काचार्य के निरुक्त एवं ब्राह्मणादिसद्ग्रन्थों से पोषित एवं परिमार्जित वेदार्थ-पद्धति को स्वीकार किया। फिर भी कतिपय पक्षपाती-जन इस नव जाज्वल्यमान ज्योति पर आवरण डालने का दुष्प्रयास करने लगे और अवैदिक बुद्धिबाह्य तर्कहीन अर्थों को ईश्वरीय शाश्वतवाणी वेद के साथ जोड़ने लगे।

मुझे बड़ी पीड़ा के साथ इस तथ्य को कहने में संकोच नहीं है कि मीमांसाशास्त्र के महान् विद्वान् स्वामी करपात्री जी भी दुराग्रह-वश इस दोष से मुक्त होने में सर्वथा असमर्थ रहे। मुझे यह भी कहने में तनिक हिचक नहीं कि वे 'वेदार्थ-पारिजात' में अनेक स्थलों पर महर्षि दयानन्द के सत्य-सिद्धान्तों का खण्डन करते हुये स्वयं ही निग्रहस्थान में आ गये हैं।

वेदार्थ-पारिजात के इन लेखक ने आर्ष-शैली से प्रतिपादित किये गये महर्षि-दयानन्द के (ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका-गत) पाण्डित्यपूर्ण आर्ष सिद्धान्तों को छल-कपट एवं वाग्जाल द्वारा खण्डित करने का जो आडम्बर रचा था उसके निराकरण करने की अत्यन्त आवश्यकता थी। आर्यसमाज के नियम 'सत्य के ग्रहण करने और असत्य के त्यागने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये' के अनुसार आर्य-जगत् के प्रकाण्ड-विद्वान्, संस्कृत-वाङ्मय के उद्भट पण्डित, वैदिक सिद्धान्तों के मर्मज्ञ, गुरुकुल-विश्व-विद्यालय, वृन्दावन के कुलपति, 'पण्डिताग्रगण्य, आचार्य विशुद्धानन्द शास्त्री, दर्शनवाचस्पति ने उस

'वेदार्थ-पारिजात' का 'वेदार्थ-कल्पद्रुम' नाम से सप्रमाण सयुक्तिक उत्तर लिखकर आर्यजगत् की महान् सेवा की है।

श्री आचार्य-प्रवर ने इस ग्रन्थ का उत्तर लिखकर गुरुवर महर्षि दयानन्द के प्रति जो आस्था प्रकट की है, उससे वे ऋषि-ऋण से उऋण होकर महर्षि दयानन्द की शिष्य-मण्डली में प्रथम पंक्ति में विराजमान हुये हैं।

आर्य समाज को यह गौरव प्राप्त है कि उसकी गोद में विलसित महनीय लेखक का एक ऐसा परिवार है, जिसके बच्चों की मातृभाषा संस्कृत है। एक ओर कहाँ तो श्री करपात्री जी के साथ वेदार्थ-पारिजात की रचना में सहायक पौराणिक जगत् के नाना-विषयों के १४ प्रकाण्ड पंडित और सर्वविध-साधन-संपन्नता, और कहाँ दूसरी ओर ये आचार्य प्रवर और उनकी परम-विदुषी धर्मपत्नी श्रीमती निर्मला 'मिश्रा' हैं, जिनके प्रयास से यह 'वेदार्थ-कल्पद्रुम' तैयार हो सका है।

यह सम्पूर्ण ग्रन्थ यथासमय ४ खण्डों में प्रकाशित होगा, सम्प्रति यह प्रथम खण्ड प्रस्तुत है, जो 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' के 'वेद-विषय-विचार, तक सम्बद्ध है।

मेरा विश्वास है कि आचार्य विशुद्धानन्द जी द्वारा लिखित इस वेदार्थ-कल्पद्रुम' का देश और विदेश की विद्वन्मण्डली तथा संस्कृत-साहित्य में रुचि रखने वाले विद्वान् स्वागत करेंगे।

निवेदक
रामगोपाल 'शालवाले'
प्रधान
सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा
नई दिल्ली

आभार-प्रदर्शन

यह 'वेदार्थ-कल्पद्रुम' स्वर्गीय श्री करपात्री जी के जीवन-काल में ही लिखा जा चुका था, परन्तु वे इसको न देख सके। मुझे महान् हर्ष होता कि वे मेरे ग्रन्थ के प्रमाण-समुच्चय और बलवत्तर्कों से महर्षि की मण्डित विचार-धारा की सत्यता के प्रति कृतज्ञ और प्रभावी (कायल) होते। वे अब दिवङ्गत हैं, पर उनके सैकड़ों भुवङ्गत भक्त इसे पढ़कर सत्यासत्य के निर्णय पर अवश्य पहुंचेंगे।

मेरे ग्रन्थ के प्रकाशन के विलम्ब का कारण मूलरूप में यही रहा कि मेरे ग्रन्थलेख का परिष्करण, मुद्रण-शोधन आदि महान् कार्य कोई अन्य प्रशस्त विद्वान् ही करे। कालानन्तर में सम्माननीय श्री सुरेन्द्रकुमार जी शास्त्री व्याकरण साहित्याचार्य के समक्ष जब यह प्रश्न आया, तो सौम्य प्रकृतिक विपश्चिद्वर्य ने बड़ी निर्लोभता एवं सारल्य से इस दुष्कर कार्य के भार को स्वयं ले लिया।

इनके प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन की चेष्टानुरूप शब्दावली न जुट सकने पर भी आभार प्रकाशन की सफलता की दिशा में एक असफल प्रयास ही सही, पर वह सही तो है। इससे मुझे सन्तोष है।

श्री करपात्री जी का वेदार्थ-पारिजात

श्री करपात्री जी के जीवन की अन्तिम, महती उपलब्धि यह है कि उन्होंने अपनी रूढिग्रस्त पौराणिक धारणाओं से अभिभूत होकर अन्धविश्वासी अपने भक्तों में अपने पाण्डित्य की धाक जमाने के लिये और उनको, स्वामि दयानन्दीय-सिद्धान्तों का खण्डन करके प्रसन्न करने के लिये 'ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका' का भी खण्डन लिख डाला।

महर्षि दयानन्द के सिद्धान्तों की सप्रमाणता एवं तर्कानुसंगतता

की दिव्यज्योति के समक्ष दिवान्धतुल्य पंडितम्मन्य दम्भी हतप्रभ होने लगे थे। पुनरपि करपात्री जी को आशा थी कि आर्यसमाजियों के विरोधियों के बाहुल्य से वे विशेष-ख्याति प्राप्त कर सकेंगे, परिणामतः उन्होने महर्षि कपिल कणाद और गौतम से भी आगे बढ़कर वेद-धारा की उपेक्षा कर कतिपय नये सिद्धान्तों की इस ग्रन्थ में तिरोहित-रूप से स्थापना की कि इस खण्डन के भकामोड़े और हुल्लड़ में वे आगे चलकर जनमानस को यह सोचने के लिए विवश कर देंगे कि करपात्री जी की प्रतिभा उक्त महर्षियों से भी आगे गई है। उनमें से कतिपय नई मान्यताओं को देखिये :—

१. वेदों का कोई कर्त्ता नहीं है, वेदों का ज्ञान प्रलय के पश्चात् सुप्त प्रतिबुद्धन्याय से ही हो जाता है।

२. मन्त्र और ब्राह्मण-ग्रन्थ दोनों ही वेद-पदाभिधेय हैं।

३. ये वेद ११३१ शाखाओं से युक्त हैं।

४. विकासवाद के सिद्धान्त के समान वेदज्ञान भी आदि में विना सिखाये भी हो सकता है।

५. ईश्वर, भक्तों पर अनुग्रह के लिये साकाररूप धारण करता है। इत्यादि २।

परन्तु वे इन धारणाओं और मान्यताओं के पोषण में कोई वेद प्रमाण प्रस्तुत नहीं कर सके। पाठक महानुभाव ! इन्हें शास्त्रों पर आस्था तथा विश्वास नहीं है, भले ही ये जनमानस को आकृष्ट करने के लिये पदे पदे शास्त्रों की दुहाई देते हैं। सांख्य तथा मीमांसा के रचयिताओं को अनीश्वरवादी प्रतिपादित करने में ये नहीं हिचके हैं। पौर्वापर्य लेख का भी ध्यान नहीं रहा है। क्योंकि वह अनास्था में स्वयं भटक रहे हैं इन्होंने 'ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका' के प्रत्यक्षर खण्डन की प्रतिज्ञा की है परन्तु वे अपने उद्देश्य में, सफल खण्डन न होने से असफल रहे हैं। खण्डन के लिये उठाये उनके ओछे हथियार लक्ष्य-बेध में असमर्थ रहे हैं। करपात्री जी ने स्वामी दयानन्द की जो व्याकरण-सम्बन्धी त्रुटियां निकाली हैं उनका भी निराकरण कर सप्रमाण-समाधान किया है तथा साथ ही करपात्री जी की अनेकों व्याकरण की त्रुटियां निकाली हैं।

मैं आर्य जगत् की शिरोमणि सार्वदेशिक आर्य-प्रतिनिधि-सभा नई दिल्ली के सभी मान्य अधिकारियों तथा विशेषतया सभा के सम्मान्य प्रधान यतिकल्प, आर्य समाजार्थ-समर्पित-समस्त-जीवनधन श्री ला० रामगोपाल शालवाले का अत्यन्त आभारी हूं जिनकी प्रेरणा से उन्हीं के पथ-प्रदर्शन में इस ग्रन्थ का प्रकाशन हुआ है।

मैं वेदार्थ-कल्पद्रुम लिखने की प्रेरणा में गुरुवर्य शास्त्रार्थ-महारथी श्री पं. बिहारीलाल जी शास्त्री काव्यतीर्थ के अतिरिक्त दर्शनाचार्य उदयवीर जी शास्त्री तथा आदरणीय श्री पं० शिवकुमार जी शास्त्री जी का भी प्रमुख योग मानता हूं जिसने मुझे सतत अग्रसर किया है। इन सभी विद्वानों के प्रति मैं कृतज्ञभाव से अवनत शिरस्क हूँ। आभारिता प्रदर्शन की इस शृंखला में विस्मरण करना, कहीं अनुताप का स्थल न बन जाये, अतः आदरणीय श्री सच्चिदानन्द जी शास्त्री एम. ए. तथा श्री ब्रह्मदत्त जी 'स्नातक' के प्रति हार्दिक कृतज्ञता अभिव्यक्त करता हूं।

अन्त में श्री चन्द्रमोहन जी शास्त्री का भी आभारी हूँ जिनके सहयोग से यह ग्रन्थ शुद्ध एवं उत्तम मुद्रित हो सका है।

आभारी

दिनांक १-११-१९८४ **आचार्य विशुद्धानन्द मिश्र**

ओ३म्

आशीर्वचः

श्रीमता करपात्रिमण्डलेन प्रणीतं प्रकाशितञ्च वेदार्थपारिजातो नाम पुस्तकं मयाऽवालोकि। प्रणेतारः अपरिपक्व-विचारजुषोजनान् भ्रामयितुंनव्यन्याय शब्दजालमेवातन्वन्। यद्यपि करपात्रिमण्डलं महर्षि-दयानन्द-मन्तव्यं खण्डयितुं सोत्साहं प्रववृते, किन्तु तथ्यमिदं सर्वथा सुस्पष्टं यन्महर्षेर्मूलसिद्धान्तखण्डने ते नितरामसाफल्यमलभन्त। महर्षि-दयानन्दस्य को नाम राद्धान्तो बुद्धिविरुद्धः शास्त्राऽसम्मतो देशस्याश्रेयस्कर आर्य-राष्ट्रविघातकश्चेति दर्शयितुं कोऽपि पण्डितो नाक्षमिष्ट।

शब्द-शास्त्रपारावारावगाहनलब्ध-नैपुण्येन व्याकरणाचार्येण विदुषा श्री विशुद्धानन्दमिश्रेण पुस्तकमदः सम्यक् समालोचि, युक्ति-युक्तं याथातथ्येन च सकलमुत्तरितम्। ऋषिदयानन्दोदीरितमखिलमपि वाक्य-जातं नितरां निर्दोषमिति च सम्यक् प्रत्यपादयद् विद्वद्धौरेयः मिश्रमहोदयः। आचार्यवर्यस्यास्य सूक्ष्म-विषय-विवेचन-निपुणशेमुषी, तर्कपूर्वकमालोचनीयमुपन्यस्य प्रमाणपुरस्सरञ्च तत् सुसङ्गमय्य येन प्रकारेण स्वाभिमतं प्राकाशयत्तदखिलं प्रेक्षावतां मुदमावहति। विद्वच्छिरोमणेः श्री विशुद्धानन्दस्य ग्रन्थमधीत्य श्रीमत :--करपात्रिणः पौराणिकाः पण्डिता हतप्रभा भविष्यन्ति। अहमाचार्यवर्यस्य निपुणं शास्त्र-विवेचन-वैचक्षण्यं वीक्ष्याततितरां मोदमानेन मनसा तं शुभाशी-राशिभिर्वर्द्धयामि। आशासे यत् शेषस्यापि वेदार्थपारिजातपुस्तकस्य समालोचनमनयैव सरण्या सम्पत्स्यते।

सुरभारती-समुन्नयने बद्धाभिलाषा विद्वांसः विदित्वेदं नूनं मोदिष्यन्ते यदाचार्य-विशुद्धानन्दस्य समस्तः परिवारः संस्कृतं मातृ-भाषात्वेन व्याहरति। अस्य विदुषः शिशवोऽपि मातृस्तन्येन साकं प्रकाममापीय सरस्वती-रसं संस्कृत एव प्रथमां वाचमुदीर्य श्रोतॄणां कर्णौ प्रीणयन्ति।

आशासेयत् वेदार्थकल्पद्रुमोऽयं स्वीयैरमृतकल्पैः फलैः सदसद्विवेचन-चणानां विचक्षणानामतिशयेन तर्पयिष्यति मनांसि,।

बिहारीलालः शास्त्री

आशीर्वाद

श्री करपात्री जी की मण्डली द्वारा प्रणीत एवं प्रकाशित 'वेदार्थ-पारिजात', नामक पुस्तक का मैंने अवलोकन किया। इस पुस्तक के प्रणेताओं ने पुस्तक में अपरिपक्वबुद्धि वाले व्यक्तिओं को भ्रमित करने के लिए प्रायः नव्य-न्याय की शब्दावली के जाल को फैलाया है। यद्यपि यह करपात्रिमण्डल महर्षि दयानन्द के वैदिक मन्तव्यों को खण्डित करने के लिये प्रवृत्त हुआ है, पर वह इस खण्डन कार्य में सर्वथा असफल रहा है; क्योंकि महर्षि दयानन्द प्रतिपादित कोई भी सिद्धान्त ऐसा नहीं है जो बुद्धि-विरुद्ध शास्त्राऽसम्मत, देश के लिये अकल्याणकारी और आर्यराष्ट्र के लिये विघातक हो।

शब्द-शास्त्र में निपुण व्याकरणाचार्य श्री पं० विशुद्धानन्द मिश्र ने करपात्री जी की उक्त पुस्तक का सम्यक् अवलोकन करके, तथ्य-पूर्ण युक्तियुक्त उत्तर देने का सफल प्रयास किया है। विद्वद्धौरेय मिश्र महोदय ने ऋषिदयानन्दोक्त प्रत्येक वाक्य-जात को निर्दोष सिद्ध किया है। उनकी सूक्ष्म-विवेचन-विचक्षण बुद्धि ने तर्क-पूर्वक आलोचनीय विषय का विश्लेषण कर, प्रमाण-पूर्वक उसका संगमन करके जिस प्रकार से अपने अभिमत समाधान को प्रस्तुत किया है, वह परीक्षा-निपुण विद्वानों के लिये हर्ष का विषय है।

विद्वत् शिरोमणि श्री विशुद्धानन्द जी के इस 'वेदार्थ कल्पद्रुम' ग्रन्थ को पढ़कर पौराणिक पंडित हतप्रभ होंगे। ऐसा मेरा विश्वास है। मैं इनकी शास्त्र-विवेचन-निपुणता को भली भाँति देख कर प्रसन्न मन से उनके मंगल के लिये अपनी शुभ आशीराशि प्रदान करता हूं, और आशा करता कि वेदार्थ-पारिजात के शेष भाग का भी इसी पद्धति से समाधान किया जायेगा।

साथ ही संस्कृत-भाषा की समुन्नति में बद्धाभिलाष विद्वज्जन यह जानकर अति प्रसन्न होंगे कि आचार्यजी का समस्त परिवार संस्कृत को मातृ-भाषा के रूप में व्यवहृत करता है। इनके छोटे २ बच्चे भी अपनी माता के दुग्ध पान के साथ सरस संस्कृत वाणी का पान करके प्रथमवाणी संस्कृत का ही बोलकर श्रोताओं को प्रसन्न करते रहे हैं।

आशा करता हूं कि यह वेदार्थ-कल्पद्रुम अमृतफलों से सदसद् विवेकी पाठकों के मनों को संतोष प्रदान करेगा।

बिहारी लाल शास्त्री

वदार्थ-कल्पद्रुमः

विद्वद्-वृन्द-मिलिन्द-वन्दित-वपुः सद्वृत्तपुष्पै र्नवैः,
कीर्त्तेः सौरभमारुतैर्विलसितो भावैः परागैरयम् ।
शिष्टाचार-सुनिष्ठ-पावनरसैः स्निग्धैः सुधा-सम्मितैः,
स्वादीयोरचनावचः फलभृतो 'वेदार्थ-कल्पद्रुमः' ॥ १ ॥

(२)

भ्रान्तिग्रस्त-बुधाऽविमर्शन पयः—पोतस्य लोकाम्बुधौ,
आर्यव्रातसुगम्यरम्यसरर्णि सन्दर्शयन् सुप्रभः ।
अज्ञानाऽमितताम से श्रुतिविभास्तम्भप्रदीपोऽपरः,
दिव्यज्योतिरवाकिरत्यभिनवो 'वेदार्थ-कल्पद्रु मः' ॥ २ ॥

(३)

आनन्दाऽऽप्तिफलः सुभावकुसुमः सच्छास्त्रपत्रैर्लसन् ।
शाखाभिर्लसितः सुयुक्तिविलसच्छायाऽऽत्मतृप्तिप्रदः ॥
सत्सिद्धान्तसुगन्धसाधितदिशः स्कन्धप्रमाणैः दृढः ।
ऋग्वेदादिक-भाष्य-भूमिजनितो, 'वेदार्थ-कल्पद्रु मः ॥ ३ ॥

(४)

शाखाः यस्य सुनिर्मलाःसुसरलाः सत्पत्र-सञ्छादिताः ।
छाया यस्य मनोहरातिसुखदा, संसेविता योगिभिः ॥
पुष्पाणि प्रकिरन्ति गन्धमनिशं चेतोहरं सर्वदा ।
चातुर्वर्ग-फलप्रदस्तरुरसौ, 'वेदार्थ-कल्पद्रु मः' ॥ ४ ॥

वेदार्थ-कल्पद्रुम

विद्वद्वृन्द-रूपी मिलिन्दों से वन्दित कलेवर वाला, सद्वृत्त रूपी नवीन पुष्पों और कीर्त्ति के सुरभित मारुतों से विलसित, भावरूपी परागों और शिष्टाचार-निष्ठ-पावन-स्निग्धरसों से संभृत, अमृत-सदृश स्वादीय-रचना-मय निर्मल-वचन-फलों से परिपूर्ण यह 'वेदार्थ-कल्पद्रु म' है ॥ १ ॥

अज्ञान के अपरिमित अन्धकार में, संसार-सागर में भ्रान्तिग्रस्त विद्वानों के विमर्शनरूपी जलपोतों के लिये आर्यों के सुगम्य-रम्य मार्ग को दिखलाता हुआ, दिव्य प्रकाश को विखेरने वाला, यह 'वेदार्थ-कल्पद्रु म' एक दिव्य ज्योतिर्मय वेद-विभा-स्तम्भ-प्रदीप के सदृश है ॥ २ ॥

आनन्द की प्राप्ति ही जिसका फल है, सुन्दर-भाव ही जिसके पुष्प हैं शास्त्ररूपी पत्रों से शोभमान, शाखाओं (४ खण्ड) से मण्डित है, सुन्दर युक्तियों की छाया से आत्मतृप्ति को देने वाला है, श्रेष्ठ सिद्धान्तों की सुगन्धि से दिग्-दिगन्त को सुवासित करने वाला, प्रमाणरूपी स्कन्धों से सुदृढ़, तथा ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका की भूमि में समुत्पन्न यह 'वेदार्थ-कल्पद्रु म' है ॥ ३ ॥

जिसकी शाखायें निर्मल और सरल हैं, उत्तम पत्रों से जो आच्छादित हैं, जिसकी छाया अतिमनोहर और सुखदेने वाली, एवं योगियों से सेवित है। चित्त को हरने वाले जिसके पुष्प रात दिन सुगन्ध बखेरते हैं, वह चतुर्वर्ग (धर्म अर्थ काम मोक्ष) के फल को देने वाला 'वेदार्थ-कल्पद्रु म' है ॥ ४ ॥

प्राग्वाक्

अशेष-शेमुषी-जुषां सुविदुषां महर्षि-दयानन्द-सरस्वती-स्वामिनाम् ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिकामवलम्ब्य प्रत्यक्षर-खण्डन-प्रतिज्ञां विधाय श्रीकरपात्रमहोदयो हेत्वाभास-छल-प्रबल युक्तिभिः संवलितं वेदार्थ-पारिजातं नाम ग्रन्थमरचयत् ।

स्थूल-कायोऽयं ग्रन्थः कृशतनो र्मे यदा दृग्गोचरतामायात्, नाभूत्तदा मानसे काऽपि स्फुरणा समाधानाय दीर्घकाल-रुजावदीर्ण-स्वास्थ्यस्य मम, परमदसीय-ग्रन्थ-प्रयुक्त-शब्दावली मामतितराम पीडयत् । काषायाम्बर-धरोऽपि दम्भ जृम्भा-विजृम्भितो लेखकश्चायं परमोपकारिणं सर्वकल्याण-कामना-साधनार्पित-जीवनं दयानन्दर्षि कृतघ्नतया मिथ्यारोपैः वैदिक-सिद्धान्त-दूषकैः कुतर्कैश्च, वेदार्थं कदर्थयन् प्रावर्तिष्ट इति दूयमानमानसोऽहं निरचिनुवं प्रत्युत्तरितुम् ।

मन्येऽहं नेतरः अतः प्राक् 'ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिकायाः', मात्रा-वर्ण-पद-वाक्य-जातं 'तुच्छमविचारतम्' इति कथयितुमेवमयतिष्ट, यथा चाऽयं श्रीकरपात्रः प्रत्यजानात् 'कणेहत्य खण्ड्यते' इति ।

पारिजातेऽस्मिन् कियत्यः खलु व्याकरण-न्याय-छन्दः शास्त्र-सिद्धान्तादेरशुद्धय इति को नाम गणयितुमेकसहायः प्रवर्तेत क्षमेत वा । मम सहधर्मिणी मामुत्तरितुं कृत-संकल्पमाज्ञाय, परमस्वस्थ माकलय्य मां बहुशो वारयन्त्यपि सहयोगायाङ्गीकृतोद्योगा समभवत् । साऽपि कष्टमन्वभवत् यदिमे पौराणिक-विद्वांसः संस्कृत-माध्यमेन किञ्चिद्दुरूह शब्दार्थ-चय-चमत्कारेण असंस्कृतज्ञान् स्वभक्तान् चकितान् कृत्वा प्रवञ्चन-प्रवीणाः सदर्थध्वनिवद्वेद-वीणा-निनादमपि कदर्थैर्दूषयितुं प्रवर्तन्ते । अतः तत्प्रत्युपायपरोऽहं विदुषामनुचरः ऋषि-भाष्य-भूमिका-खण्डनस्यैतस्य खण्डनं विधित्सुरुद्यतोऽस्मि ।

प्रबरमुनिकृते 'यं भाष्यभूमेः' समन्तात् ।
व्यथित हि करपात्री, खण्डनायासमत्र ॥
तमिह खलु विशुद्धानन्दनामाऽहमार्यः, ।
निगम-निशित-तर्कैः, सप्रमाणं छिनद्मि ॥ १ ॥

गुरुणा प्रेरितोऽनन्त श्रीजुषा शास्त्रिणाप्यहम् ।
'निर्मलां' वृत्तिमाधाय' यथाशक्ति समादधे ॥

बिदुषां बशंवदः
आचार्य विशुद्धानन्द मिश्रः

प्राग्वाग्

अशेषमति-सम्पन्न महर्षि दयानन्द सरस्वती की 'ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका' के प्रत्यक्षर-खण्डन की प्रतिज्ञा करके श्री करपात्री महोदय ने हेत्वाभास-छल-प्रबल-युक्तियुक्त 'वेदार्थ-पारिजात' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया है। मुझ कृशतनु को, यह स्थूलकाय ग्रन्थ जब दृष्टिगोचर हुआ तब दीर्घकालीन रोगग्रस्त होने के कारण, इस पोथे का उत्तर देने के लिये मेरे मन में कोई उत्साह नहीं हुआ, परन्तु ऋषि दयानन्द-सरस्वती के लिये इस पोथे में जो अशिष्ट एवम् अभद्र शब्दावली प्रयुक्त की गई है, उसने मेरे अन्तर को अति व्यथित किया और ये गेरुआ वस्त्रधारी स्वपाण्डित्य-दम्भीलेखक, परोपकारी सर्वकल्याणकामना-साधना में जोवन समर्पित करने वाले ऋषिदयानन्द पर, कृतघ्नता से वैदिक-सिद्धान्तों के लाञ्छनस्वरूप मिथ्या आरोप लगाकर कुतर्कों से वेदार्थ को दूषित करने के लिये कटिबद्ध हैं यह देखकर मैंने उत्तर देने का निश्चय कर लिया।

मेरा विचार है कि अब तक कोई अन्य इतना असूयक द्वेषी विद्वान् नहीं हुआ जिसने ऋग्वेदादि-भाष्य,-भूमिका के वर्ण, पद, वाक्य सभी को 'तुच्छ' अविचारित' कहने का ऐसा दुःसाहस किया हो जैसे कि करपात्री जी ने तलछट खण्डन की प्रतिज्ञा की है।

इस पारिजात में कितनी ही व्याकरण न्याय, छन्दःशास्त्र और वैदिक सिद्धान्तों को समझने की महाभूलें की हैं उन सबकी गणना अकेले कर पाना अतिकठिन है। पहले मुझे मेरी (सहधर्मिणी) धर्मपत्नी ने मुझे बहुत रोका फिर भी मुझे उत्तर देने के लिये दृढ़-संकल्प समझकर पूर्ण सहायता देना स्वीकृत कर लिया। उन्हें भी इस बात से बहुत कष्ट हुआ कि ये प्रवञ्चन-प्रवीण पौराणिक-विद्वान् संस्कृत को माध्यम बनाकर बुद्धिबाह्य शब्दार्थचयन के चमत्कार से संस्कृतान-

भिज्ञ अपने भक्तों को चकित करके सदर्थवान् वेद-वीणा-विनाद को दुष्टार्थों से दूषित करने पर तुले गये हैं।

आक्षेपों का समाधान करने के लिये कृतसंकल्प विद्वत्सेवक मैं, ऋग्वेदादिभाष्य भमिका के किये खण्डनों का खण्डन कर रहा हूं।

"मुनिवर दयानन्द-सरस्वती की भाष्यभूमिका का श्री करपात्री जी ने जो खण्डन का प्रयास किया है उसका बैदिक-तीक्ष्ण-तर्कों से सप्रमाण विशुद्धानन्द-नामक आर्य मैं छेदन कर रहा हूं।

अशेषश्रीविभूषित गुरुवर्य श्री पं० बिहारीलाल जी शास्त्री ने मुझे समाधानार्थ प्रवृत्त किया है मैं 'निर्मलावृत्ति से यथाशक्ति समाधान प्रस्तुत कर रहा हूं।

विद्वानों का वशंवद
आचार्य विशुद्धानन्द मिश्र

प्रास्तावनिकम्

महदिदं प्रमोदावहं यदद्यतनविद्वांसोऽपि विमृशन्ति वेदवादान्, भृशं हृष्यति च मामकं चेतो यत् विपश्चिदपश्चिमा पौराणिका अपि विचिन्वन्ति रम्योक्ति-रहस्य-रत्नानि विश्वविश्रुताभ्यः श्रुतिभ्यः। मासकतिपयपूर्वं नौ दृग्पथमवातरत् श्री करपात्र-स्वामि-विरचितो 'वेदार्थ-पारिजातो' नाम ग्रन्थः।

अस्माकं गीर्वाणवाणी-विलास-रसिकानां, संस्कृतमातृभाषाणामस्मद्बालानां चापि, सस्कृतज्ञान् प्रति महनीया श्रद्धा-प्रवणा भावनाऽनवरत मनसि समुद्दीप्ता जरीजागर्ति। सा निसर्गतश्चान्वबध्नात् श्रीकरपात्रिमहोदयानपि। परमेतद्-ग्रन्थाध्ययने स्वामिदयानन्दं प्रति धार्ष्ट्याादिशब्द-प्रयोगबाहुल्यम् अतितरामखेदयत् हृदयं नौ। भव्यभावुक-मानसत्वादस्य 'वेदार्थ कल्पद्रुम' लेखकस्य मानसमतितरा-मव्यथत; चिराय च चिन्तासन्तानसन्तप्ते चेतसि संजाते सान्तर्द्वन्द्वे च नास्य 'वेदार्थ-कल्पद्रुमस्य लेखन संकल्पद्रुमः धार्ष्ट्यादिशब्दावलीं बहुकालाफलेग्रहितामभजत्, परं श्रावं श्रावं धार्ष्ट्यादिशब्दावलीं बहुकालातीतिः परिणामे आज्यरुजाराज्य-व्याकोपाऽऽटोप-पीड्यमानमपि, मदीड्यचरणमेतं दयानन्दीय-मत-खण्डनं विधातुं परवन्तं व्यधात् समुदमिषच्च तद्हृदयोद्याने काचित् एतादृग्ग्रन्थरचनोत्कलिका कलिका।

श्री करपात्रिणा ऋग्वेदादि-भूमिकायाः कणेहत्य खण्डनप्रतिज्ञानं केवलं लेखक-दुर्मनोदर्शनम्। किञ्च सुर-गिराज्ञान-गर्वितस्यास्य संन्यासिनः दृग्वर्त्मनि नहि कश्चिद् गुणो दयानन्दर्षिभूमिकायाः अवातरदिति महान् विस्मयः। एवं-विधा रागद्वेष-दूषितवृत्तिः न शोभते देववाणीविदुषः सन्यासिनः।

एषा गुण-ग्रहण-परिपन्थिनी-प्रवृत्तिः हृदयेशय-शङ्कुरिव सुभृशं व्याकुलमकार्षीन्मम मानसम्।

अपि च, अत्यर्थं विस्मयावहमदो यत् कराल-कुटिल कालाक्रान्त-

चक्रे प्रगुणितरये आर्यसामाजिकाः पौराणिका वा सम्भूय ईश्वर, वेद, मूर्तिपूजा, श्राद्ध बलि-दानादि-विषयेषु नाद्यावधि निर्णयन्तश्चायन्ते वैमत्यमवमत्यैकमत्य-परिणामम्। वेदेष्वैतिह्यभ्रमः, मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्, प्रकृति-जीवसत्ता-निषेध-परकाद्वैतवाद, इत्यादयो विषयाः अनल्पकाल-कलनेनाऽपि नाद्यावधि वादेन निर्विवादं निणयं प्रापिताः। अस्तु न भवेन्नाम निर्णयः, परं प्रेम-पूर्वक-विषय-परिशीलन-प्रक्रिया केन प्रतिषिद्धा? इति तु न परिज्ञायते।

अस्तु तावद्, वेदेष्वितिवृत्तमस्ति न वेति पक्ष-द्वयमपि विचार्यतेऽधुना। वेदानां नित्यत्वाभ्युपगमे तत्र वेदेषु पुरुरव-उर्वश्योः वसिष्ठ-विश्वामित्रयोः इन्द्रवृत्रयोः, इन्द्राऽहिल्ययोः कथांशाः उपाख्यानानि वा कथं संगच्छरन्, यतोहि नित्येषु खलु सत्सु वेदेषु अनित्यानां मर्त्यानामुपाख्यानानि न सम्भाव्येरन् परं विलसन्ति तत्र बहुत्र तादृक्कथांशाः इति चेदुच्यते—यानि कानिचिद् वृत्तान्त-रूपेण भासमानानि वृत्तानि यत्रकुत्राप्युपलभ्यन्ते, तान्यर्थान्तरावगमतया, विभिन्नतात्पर्यवत्त्वेन चोन्नेयानि' इत्यवधेयं सुधीभिः। यदि च क्वचिद् वेदेषु संज्ञापरा वसिष्ठादय शब्दाः केषाञ्चिदनित्य-मर्त्यानामवबोधका आपाततोऽवभासन्ते न तावता तेषामस्मदादिवत् इन्द्रवृत्रादीनामितिहास-परत्वमवबाध्यम्; अपितु तत्त्वज्ञानपरम् अर्थान्तरं मृग्यं तेषाम्।

निरुक्तभाष्यकृद्भिः स्कन्द, दुर्गप्रभृतिभिरपि महाभागैरेष एवार्थः सिद्धान्तितः। तद्यथा—"एवमाख्यानरूपाणां मन्त्राणां यजमानेन नित्येषु पदार्थेषु योजना कर्त्तव्या, तथा च वक्ष्यति 'तत्को नाम वृत्रः? मेघ इति नैरुक्ताः" औपचारिकोऽयं मन्त्रेष्वाख्यान-समयः। परमार्थे तु नित्यपक्ष एवेति सिद्धम्" (स्कन्दस्वामी निरुक्त-भाष्ये)।

एवं समूहावतां विदुषां नयेन न मनागपि तत्र तत्र स्थलेषु इति-वृत्त-विशेष-शङ्कावकाशलेशः। ऐतिहासिकास्तु वेदवाणीमशाश्वतिकी मृषि-प्रणीतां पौरुषेयीं च मन्यमानास्तत्रेतिहासमभिमन्यन्ते विवृण्वन्ति च ते तांस्तान् कथांशांन् इतिवृत्तरूपेण।

वेदेषु शन्तनु-देवापी-कथां प्रणिभाल्य सुदासाद्याख्यानानि पर्यालोच्य, गंगादिनदीनामानि संवीक्ष्य मत्स्यादि-प्रदेश-नामानि च नयनगोचरीकृत्य सायणोद्गीथ-वेंकट-माधव-भट्ट-भास्कर-महीधरादि भाष्यकाराः अपि आख्यानत्वेन प्रपञ्चितानुपदेशान् इतिहासरूपेण मन्यमानाः भ्रमजाले बम्भ्रमति। अथापि ते तत्रेतिहासमाचक्षते" इत्यादीः यास्कीयोक्तीरवलम्ब्य यास्काचार्यमपि इतिवृत्तवादिनं मन्यन्ते। परं वस्तुतस्तु यास्काचार्यः ऐतिहासिकपक्षावलम्बिनां पक्षमुद्धृत्य तस्य खण्डनपराणि अर्थान्तराणि प्रविधाय, सुस्पष्टतया वेदेषु अनित्येतिहास-पक्षाभावं प्रमाणयति। एवमेव महर्षिदयानन्देनापि वेदेषु अनैतिहासिक-पक्ष एवेति सप्रमाणं प्रतिपादितम्। इयमभिनवेव भासमानाऽपि प्राक्तना दृक् वेदप्रतिष्ठायाः वर्धयित्री आस्थविरबालं चालं सम्मननाय सम्माननाय च।

प्रस्तावनाप्रस्तोतॄणामनवद्यहृद्य-प्रतिपद्यमान-विद्यावदातमतीनां श्रीस्वामिकरपात्र-सुयोग्य-शिष्य-मण्डलमण्डनानां, पाण्डित्याऽऽभा-सितसितयशसां महाविदुषामभिरामघटितशिष्य-भक्तिपट्टानां, पट्टाभिराम शास्त्रिणां, श्रीकरपात्रिसंदर्भगतागभीरविमर्श-पुरस्सरम् असमीचीनोऽर्वाचीनो वचनरचना-प्रपञ्चप्रहारोऽयं न रोचते शुचि-रुचिभ्यः विपश्चिद्भ्यः यद् "ब्राह्मणग्रन्थानां सत्यपि संहिताव्याख्यान-रूपत्वे यथा तदपौरुषेयत्वं प्रसिद्ध्यति तथा मनोहरः पन्थाः प्रदर्शितः" इति।

एवंविधगुरु-वचन-समर्थन-पक्षपात-प्रणिपातेन अविविच्य मक्षिका-स्थान-मक्षिका-निपातन-प्रवणैः विद्यासागरैस्तैः क्षीराम्भोधिरपि क्षाराम्भोधीकृतः।

तदिह किञ्चित् संक्षेपेण विविच्यते तत्त्व-चिन्तनमुक्ताश्चिन्वतां नीरक्षीर-विवेकवतां विद्वद्वतंसानां हंसानां पुरस्तात्तथा हि:-के खलु ग्रन्था वेदपदाभिधयाः इति जिज्ञासायां विनिवेद्यते यद्यप्यत्रविषये संहिता, ब्राह्मणम्, आरण्यकोपनिषद्, कल्प-मीमांसासूत्रं, षडङ्गानि चेति मतपञ्चकं संभाव्यते, तथापि मन्त्रब्राह्मणयोरेव मुख्यत्वेन वेदाभिधेयत्वमिह पर्यालोच्यतेः तथाहि :—

संहितानां वेदत्व-विषये तु नाद्यावधि विवादोऽवर्तिष्ट विद्वत्सु,

केवलं ब्राह्मणग्रन्थानां वेदाभिधेयत्वसमर्थने 'मन्त्रब्राह्मणयो र्वेदनामधेयम्' इतीदृशानि सूत्राणि समुपलभ्यन्तेऽतोऽजायत ब्राह्मणानां सम्बन्धे वेदत्व-विवादः।

अत्रेदमवधेयं यत्-ब्राह्मणानां वेदत्वप्रतिपादकानि कल्पसूत्राणि-पौरुषेयाणि, तानि च ब्राह्मणानां रचना कालात् उत्तरकालवर्तीनि ब्राह्मणेति तत्र नाम-ग्रहणात्। सूत्र-रचनाकालात् पूर्वं न कश्चिदपि ब्राह्मणानां वेदत्वं प्रतिपादयितुं अवर्तिष्टेति निश्चप्रचम्।

अपि च ब्राह्मण-ग्रन्थेष्वपि समुपलभ्यमानो वेद-पद प्रयोगः केवलं मन्त्राभिधायी इति प्रणिभालनीयं विद्वद्भिः, तथा हि

'तानि ज्योतींष्यभ्यतपत् तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्त ऋग्वेद एवाग्नेरजायत, यजुर्वेदो वायोः, सामवेद आदित्यात्...स ऋचैव होत्रमकरोद् यजुषाऽऽध्वर्यवं साम्नोद्गीथम्' (ऐ. ब्रा. ५।५।७)

इहोपक्रमे वेदशब्द-प्रयोगोऽन्ते अपि च ऋग्यजुः साम शब्दानां प्रयोगोऽमीषामेव ऋगादीनां संहितानामेव वेदत्वं साधयति न ब्राह्मणानाम्।

गीर्वाण-वाणीपारावारपारीण महानाचार्यशङ्करोऽपि 'एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतत् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणम्...इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये, 'किन्तन्निश्वसितमिव ततो जातमित्युच्यतेः-यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः चतुर्विधमन्त्रजातमिति' चतुर्विधमेव वेदत्वं प्रत्यपादयत्। याज्ञिकास्तु 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयमिति यज्ञ-प्रकरणे ब्राह्मणानामपि वेदत्वममन्यन्त तदविकलविधिप्रतिपादनात्। एतत्परिपुष्टौ 'तद्याः प्राच्यो नद्यो वहन्ति याश्च दक्षिणस्यो याश्च प्रतीच्यः समुद्रमभिपद्यमानानां छिद्यते नामधेयं, समुद्र इत्याचक्षते...एवमिमे सर्वे वेदा निर्मिताः संकल्पाः सरहस्याः सब्राह्मणाः, यज्ञमभिपद्यमानानां छिद्यते नामधेयं, यज्ञ इत्याचक्षते' याज्ञिकानामेषा परिभाषेति ध्वन्यते। अपि चेह 'सर्वे वेदा सब्राह्मणाः' इति वचनेन ब्राह्मणैः सहिता वेदा इति (विग्रहात्) ब्राह्मणानां गौणतैव सिद्धा, सशिष्यो गुरुरितिवत्।

वस्तुतस्तु कृष्णयजुषि ब्राह्मणानां पाठाः अपि मिश्रिताः, अतः परिज्ञान-काठिन्य-निवारणाय कृष्णयजुर्वेदीयाः याज्ञिकाः अनुष्ठीय-मानकर्म-स्मारकत्वं मन्त्रत्वं विनियोजकं च ब्राह्मणमिति पृथक्-पृथक् लक्षणं व्यधुः। श्रीमता पट्टाभिरामशास्त्रिणाऽपि ब्राह्मणानां व्याख्यान-रूपत्वं प्रत्यपादि स्वभूमिकायाम् (वे. पा. पृ. ७ पं २१)।

अपि च न वेदव्याख्यानं (ब्राह्मणम्) वेदो भवितुमर्हति इति समर्थयन् सनातनधर्मि-शेखरायमाणो सामश्रमी ऐतरेयालोचने व्यलिखत् "सायणाचार्येण स्वकण्ठरवेणैव अस्य मन्त्रव्याख्यानरूपत्वमभाषि। तथा हि तैत्तिरीयसंहिता-भाष्य-भूमिकायाम् "ब्राह्मणस्य मन्त्रव्याख्यान-रूपत्वात् मन्त्रा एवादौ समाम्नाता इति।" तथा च मीमांसायामपि "अनाम्नातेष्वमन्त्रत्वमाम्नातेषु हि विभागः (२।१।३४)।" अनाम्नातेषूहप्रवरनामधेयेषु न मन्त्रत्वं, न च मन्त्रसम्बन्धेनैव ब्राह्मणानामपि मन्त्रत्वं निगदितुं शक्यते, ईश्वरोक्तत्वाभावात् पौरुषेयत्वाच्च।"

अपि च एतत्प्रसंगे हरिवंशपुराणे

ऋचो यजूंषि सामानि, छन्दांस्याथर्वणानि च।
चत्वारस्त्वखिलाः वेदा सरहस्याः सविस्तराः।

गोपथ ब्राह्मणेऽपि—"चत्वारो वा इमे वेदाः ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदः ब्रह्मवेद" इति, उतापि महाभारते शान्तिपर्वणि—

त्रयीविद्यामवेक्षेत, वेदे सूक्तमथाङ्गतः।
ऋग्सामवर्णाक्षरता, यजुषोऽथर्वणस्तथा॥ (शां. प. १२५)

अथापि सर्वानुक्रमण्याम्:—

विनियोक्तव्य-रूपश्च, त्रिविधः सम्प्रदर्श्यते।
ऋग्यजुः सामरूपेण, मन्त्रो वेद-चतुष्टये।

तदेवं विविधैः शास्त्रीयैः प्रमाणैः 'ब्राह्मणवर्जं मन्त्राणामेव वेदत्वमितिप्रमाणिते सत्यपि श्रीमता करपात्रिणा ऽथापि तच्छिष्यश्रीमत्पट्टाभिरामशास्त्रिणा ब्राह्मणानामपि वेदत्वकथनं समर्थनं वा अविमृष्टमेव सर्वथा।

चरमश्चापि चिन्त्यः प्रश्नः ईश्वर-विषयकः। तदत्र जायते शंका किमेका ईश्वरस्यैव सत्ता उत प्रकृति-जीवात्मनोरपि ? तत्र संक्षेपेणा-

न्वीक्ष्यते तावत्:-यदा वयं शास्त्राण्यनुशीलयामस्तदा अस्माभिः ईश्वर-जीव प्रकृतय स्त्रयोऽनाद्यनन्ताः पदार्थाः प्रणिभाल्यन्ते। अत्र केचिद्-मिथोविरोधं दर्शन्ति, परं परयमार्थतो न क्वापि खलु दर्शनकारेषु पारस्परिकविरोधः प्रत्युत पारस्परिक पूर्ति-परका एवेमे इति सुविशदं षड्दर्शनसमुच्चये द्रष्टव्यम्।

दर्शनेषु पारस्परिक-विरोधदर्शिनस्तावत् श्रीमच्छङ्कराचार्य-संन्यासिनः एव प्रावल्येन दृश्यन्ते यैः प्रधानात्मप्रतिपादकस्य सांख्याचार्यस्य खण्डनं व्यधीयत। किं बहुना, तैः महर्षि-कपिलाचार्याणामस्तित्वमेव अप्रमाणितम् तथा हि:—वेदान्तदर्शनस्य द्वितीयाध्यायस्य प्रथमसूत्रे 'स्मृत्यनवकाश-दोष-प्रसङ्ग इति चेन्न, 'अन्य स्मृत्यनवकाश-दोष प्रसङ्गात्' या तु श्रुतिः कपिलस्य ज्ञानातिशयं प्रदर्शयन्ती प्रदर्शिता न तथा श्रुति-विरुद्धमपि कापिलमतं श्रद्धातुं शक्यम्, कपिलमिति श्रुतिसामान्यमात्रत्वात्, अन्यस्य च कपिलस्य सगर-पुत्राणां प्रतप्तुर्वासुदेवनम्नः स्मरणात्' (शां० भा०)

तथा च तृतीय सूत्रभाष्ये 'द्वैतिनो हि ते सांख्य योगाश्च नात्मैकत्व दर्शिनः' इत्येवं श्रुति-स्मृति-प्रतिपाद्य-सर्वज्ञकल्प-कपिलदेवो वासुदेवांश-रूपेणावतीर्णः कश्चिदन्य एवासीत् इत्युक्तम्।"

यद्यपि श्रीमद्भागवतानुसारमपि

"अयं सिद्धगणाधीशः सांख्याचार्यैः सुसम्मतः।
लोके कपिल इत्याख्यां, गन्ता ते कीर्तिवर्धनः।

इत्यादिवचनैरयमेव सांख्यशास्त्रप्रणेता कपिलः इति सिध्यति, तथाऽपि कस्य खलु सामर्थ्यं यो महाप्रज्ञं शङ्करस्वामिनम् एवं प्रवचनात् अवरुणद्ध।

यद्यपि अन्ते हतप्रभेण भगवता शङ्करेणापि कथितमेव यत् 'अस्मत् कृते व्याख्याने जना न विश्वस्युः बहुमानात् स्मृतिप्रणेतृषु कपिलादिषु" तथापि सः द्वैतवादिनं कपिलम् अवैदिकं परमाणुवादिनं च कणादं वैनाशिकममन्यत। शङ्करमतेन तु यद्यपि पञ्चापि दर्शनकाराः नानात्म-वादिनोऽवैदिका निर्णीयन्ते शिष्टश्चविशिष्टो वेदान्तप्रणेता व्यासदेवश्च योगसूत्रभाष्ये नानाचिदात्म-सिद्धान्तमेव प्रत्यपादयत्। अनयोः कतरो नु मन्येत, वैदिकोऽवैदिको वेति ? तथाप्यस्मान् समानपि आश्चर्या-

म्भोनिधौ ब्रुडितान् विधत्ते लोके एषा, "षड्दर्शनस्थापनाचार्यः जगद्गुरुश्रीमच्छङ्कराचार्य इति पवित्र-विशेषणात्मिका ख्यातिः।"

वस्तुतस्तु भगवतां श्रद्धेयशङ्कराचार्याणामेषा मिथ्या परदोषोद्भावनरूपा, षड्दर्शनमहाप्रसाद-प्रध्वंस-प्रयासपराऽप्रशस्तिकरी प्रवृत्तिरगरीयसी।

अथ च नहि दुःखादिफलभोक्ता परमेश्वरः, परं जीवात्मा एव। न च प्रकृतिं विना अपरिणामिनः परमात्मनः कल्पितोपादानरूपत्वात् जगदुत्पत्तिः शास्त्र-सम्मता, परं स्वामिशङ्कराचार्यस्तु स्वमनीषिकयाऽस्मिन्विषये सांख्यादि-दर्शन-विरुद्धं पृथगेव स्वकृशरां पचति।

असंदिग्धमिदं यदिमं पन्थानमद्वैतवाद-वन्ध-सिद्धान्तेन अतितरां दुराराध्यं जटिलं च व्यधित भगवान् शङ्करः। जाटिल्यपटलमटलमस्य भूयो मायावादमवष्टभ्य वरीवर्ति। माया एवास्य अद्वैतवादस्य आधारभित्तिः। मायारूपावबोधमन्तरेणाद्वैतवादो बुद्धि-विषयीकर्त्तुमतीव दुष्करः। माया शब्दोऽयं यद्यपि न शाङ्करोपज्ञः, ततः प्रागपि तदुपलब्धेः, "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" मा मर्त्यस्य मायिनः' इत्यादिश्रुतिषु; तथापि मायास्वरूपं तु तदुपज्ञमेवेति निर्विशङ्कम्।

यद्यपि मायाशब्दो वैदिक-साहित्ये प्रकृतिवचनः, "मायां तु प्रकृतिं विद्धि, मायिनं तु महेश्वरमिति वचनात्, परन्तु शाङ्करनये सदसद्विलक्षणा काप्यनिर्वचनीया ब्रह्मणः शक्तिः माया। तथा हि तदुक्तिः—

'सत्यप्यसत्यप्युभयात्मिका नो,
भिन्नाऽप्यभिन्नाऽप्युभयात्मिका नो।
साङ्गाप्यनङ्गाप्युभयात्मिकाऽपि नो,
मायाऽद्भुताऽनिर्वचनीय-रूपा॥

एषैव खलु निखिलं जगत् प्रसूते। ब्रह्माश्रयन्ती चापि तदावरणं करोति, परं नैवं-विधो दृष्टान्तो लोके समुपलभ्यते। वास्तवं चेदं यत् प्रकृतिर्जीवः परमेश्वरश्चेति त्रयोऽप्यजन्मानः, त्रयोऽपि सर्वजगत् कारणं नैषां किमप्यन्यत्कारणमिति। तथा च श्रुतिः—

अजामेकां लोहित-कृष्ण-शुक्लां, बह्वीः प्रजाः सृजमानां स्वरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते, जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥
(श्वे० अ० ४। मं० ५)

अनादिर्जीवात्मा प्रकृतिमनादिं परिभुञ्जानस्तत्र सज्जति। परमेश्वरस्तु तामनश्नन् नावलिप्यते। एकमेव ब्रह्मनादं घोषयन्तश्चेमे नवीनाः मायावादिनो नेदं विदन्ति यत्ते जडाऽर्चनपरा अपि प्रत्यक्ष-सिद्धां जडप्रकृतिं कथमपलपितुं शक्ष्यन्ते। स्वगतशून्येऽपि ब्रह्मणि सजातीय-विजातीय-भेदाऽभावो न स्थातुं युक्तः आत्मप्रकृत्योः सत्त्वात्।

एतत्सर्वं निभाल्य स्वामि-दयानन्दः सरस्वती समस्तशास्त्रप्रतिष्ठां पुनः स्थापयितुं वेदशास्त्र-सम्मतं त्रैतवादं वेदेष्वितिहासाभावादि-विषयांश्च सम्यग् विविच्य सिद्धान्तितवानिति सुधियो विदन्ति।

श्री करपात्रिमहोदयास्तु सपरिकरा अपि न्यायादि-शास्त्राणां मिथोविरोधमुदीरयन्त एव ग्रन्थमिमं प्राणयन्।

अस्मिन् वेदार्थ-कल्पद्रुमे नाम ग्रन्थे वेदार्थपारिजातलेखकस्य श्रीकरपात्रस्य अपमानाय न कामपि अपशब्दावलीं प्रयुञ्जानोऽस्ति-विद्वान् रचयिता, तथापि यत्र तत्र महर्षि-दयानन्दं प्रति प्रयुक्ताऽभद्र-पदावली समुद्वेजयन्तीव एनं लेखकं तदुत्तरे किञ्चिद् दुःश्रववचांसि प्रयोक्तुं परवशमकरोत्। समयाऽभावात् 'कल्पद्रुमे' ऽस्मिन् वेदोत्पत्ति-नित्यत्व-वेद-विषय-विचारचर्चाऽऽक्षेपनिरास एव व्यधायि। शेषोऽशेषो हि कालेन समाध्यास्यते।

अहमिह स्वलघुभगिन्याः पुराणेतिहास-वेदाचार्यायाः सावित्री-देव्याः आत्मजं स्वभागिनेयं चि. कवि क्रतु शर्माणं मूलप्रतिलिपि-सज्जीकरणनिरतं, प्रमाणान्वेषणसाहाय्यकरं सूनुं चि० मेधाव्रतं स्वपुत्रीं मञ्जुलां च संस्मरामि साशीराशिभृद्धृदयाञ्जलिं विभ्रती अभि-स्नेहभावेन यदेते अपि मामकाः जना महोपकारिणः वेदोद्धारिणः महर्षेर्दयानन्दस्य सुपरीक्षित-वर्त्मनि वर्त्तमानाः तेषां सत्य-सिद्धान्तानां प्रचारं प्रसारं च कुर्युरिति कामयमाना विरमाम्यतिपल्लवितेन।

निवेदिका
निर्मला मिश्रा

प्रस्तावना

यह बड़े हर्ष की बात है कि आजकल के विद्वान् भी वेदों पर विचार कर रहे हैं, मेरा हृदय और भी प्रसन्नता का अनुभव कर रहा है कि पौराणिक विद्वान् भी विश्वविश्रुत श्रुतियों से सूक्ति रत्नों के चयन में तत्पर हैं।

कुछ मास पूर्व श्री करपात्री जी द्वारा विरचित 'वेदार्थ-पारिजात' ग्रन्थ हम लोगों को देखने को मिला। देवभाषा संस्कृत के रसिक हम और संस्कृतमातृभाषी हमारे बच्चों के हृदय में भी संस्कृत-विद्वानों के प्रति निरन्तर श्रद्धा-भावना विद्यमान रहती है। यही भावना श्री करपात्री जी महोदय के प्रति भी बहुत समय तक अनुबद्ध रही, परन्तु इनके इस ग्रन्थ के पढ़ने पर, परमोपकारी महान् वेद विद्वान् महर्षि दयानन्द के प्रति इनके द्वारा प्रयुक्त धाष्ट्र्य (धृष्टता) आदि अपशब्दों के बाहुल्य से हमारे हृदयों को अतीव खेद की अनुभूति हुई। विशेषरूप से 'वेदार्थ-कल्पद्रुम' के भावुक-हृदय लेखक का मन तो अत्यन्त व्यथित हुआ।

बहुत काल तक चिन्ताग्रस्तअन्तर्द्वन्द्व पूर्ण इनके मन में इस 'वेदार्थ-कल्पद्रुम के लेखन का संकल्प कल्पद्रुम पुष्पित और फलित न हो सका; परन्तु धाष्ट्र्यादि शब्दावली को सुन सुनकर बहुकालात्यय ने रोग से पीडित होने पर भी इन लेखक को दयानन्दीय-मत-खण्डन के खण्डनहेतु कृतसंकल्प बना ही दिया और इस कार्य के लिए इनके हृदयोद्यान में ग्रन्थरचने की उत्कंठा रूपी कलिका खिल उठी।

कणेहत्य खण्ड्यते' ऐसी प्रतिज्ञा करके ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका में करपात्री जी को कोई एक भी गुण दृष्टिगोचर नहीं हुआ यह महान् आश्चर्य है। यह प्रवृत्ति देववाणी के संन्यासी को शोभा नहीं देती। ऐसी रागद्वेषदूषितवृत्ति विद्वानों की गुण-ग्रहण विरोधिनी

प्रवृत्ति है, इसने हृदय-शल्य बनकर मेरे मन को अत्यन्त व्याकुल कर दिया।

अतिविस्मय का विषय है कि अत्यन्त वेगशील कराल कुटिल कालचक्र प्रवर्त्तन में भी आर्यसामाजिक और पौराणिक विद्वान्, ईश्वर, वेद, मूर्तिपूजा, श्राद्ध, बलि दान आदि विषयों पर आज तक भी मिलकर निर्णय नहीं करते। वेदों में इतिहास, मन्त्र और ब्राह्मण की वेद संज्ञा, प्रकृति-जीवसत्ता निषेधपरक अद्वैतवाद इत्यादि विषय बहुत काल से विचार करने पर भी विवाद से निर्विवाद निर्णीत नहीं हुये। अच्छा, भले ही निर्णय न हो परन्तु प्रेमपूर्वक विषय परिशीलन की प्रक्रिया में विद्वानों को क्या बाधा है? यह मेरी समझ में नहीं आता।

अच्छा तो अब वेदों में इतिहास है या नहीं, दोनों पक्षों पर विचार किया जाता है। वेदों का नित्यत्वस्वीकार करने पर पुरुरवा-उर्वशी, वसिष्ठ-विश्वामित्र, इन्द्र-वृत्र, इन्द्र और अहिल्या के कथांश या उपाख्यान कैसे संगत हो सकते हैं? क्योंकि वेदों के नित्य होने पर अनित्य प्राणियों के उपाख्यान उनमें कैसे संभावित हो सकते हैं? यदि हैं तो उनका समाधान प्रस्तुत है—जो वृत्तान्तरूप से आभा-समान कथानक हैं वे अर्थान्तर के गमक (बोधक) होने के कारण तथा विभिन्नतात्पर्ययुक्त होने के कारण समाधान के योग्य हैं। यदि कहीं वेदों में वसिष्ठ आदि शब्द किन्हो अनित्य मनुष्यों के अवबोधक बाह्य रूप से प्रतीत भी होते हैं तो केवल इतने भर से हमारे समान इन्द्र, वृत्र आदि का भी इतिहास-परत्व नहीं समझना चाहिए अपितु तत्त्व-ज्ञान-परक उनका अर्थान्तर ढूंढना चाहिए।

निरुक्त भाष्यकार स्कन्द-दुर्ग प्रभृति आचार्यों ने भी यही पक्ष सिद्धान्त रूप में स्वीकार किया है जैसे कि "इस प्रकार आख्यानरूपक मन्त्रों की यजमान के द्वारा नित्यपदार्थों में योजना करनी चाहिए जैसा कि कहा भी जाएगा कि—यहाँ वृत्र कौन है? वृत्र मेघ है ऐसा निरुक्त पक्ष-धर मानते हैं। मन्त्रों में आख्यान औपचारिक है, परमार्थरूप में नित्य पक्ष ही सिद्ध है"। (स्कन्दस्वामी मत)

इस प्रकार सम्यग् ऊहा करने वाले विद्वानों की नीति से वेदों में

इतिहास मानने की शंका के लिए अवकाश का लेशमात्र भी नहीं है। ऐतिहासिक (इतिहास पक्षधर) तो वेदवाणी को अनित्य, ऋषि प्रणीत और पुरुषकृत मानते हुए, उन कथांशों को इतिहास मानते हैं। वेदों में शन्तनु और देवापी कथा को देखकर, सुदासादि आख्यानों का पर्यालोचन करके, गंगादि नदियों और मत्स्यादि प्रदेशों के नामों को देखकर, सायण, उद्गीथ, वेंकट, माधव, भट्ट, भास्कर, महीधरादि वेदभाष्यकार भी आख्यान रूप प्रपंचों को ही उपदेश रूप में स्वीकार कर इतिहास पक्ष को मानते हुए भ्रमजाल में चक्कर काट रहे हैं, और वे निरुक्तकार के 'तत्रेतिहासमाचक्षते' इत्यादि वचनों का आश्रय लेकर यास्काचार्य को भी इतिहासवादी मानते हैं, परन्तु भगवान् यास्क तो ऐतिहासिक पक्षावलम्बियों का पक्ष उद्धृत कर, उसका खण्डन परक-अर्थान्तर करके वेदों में अनित्य-इतिहास के अभाव को स्पष्ट रूप से प्रमाणित करते हैं।

इसी प्रकार महर्षि दयानन्द ने भी वेदों में अनैतिहासिक पक्ष को ही माना है। ऋषि दयानन्द का नवीन लगने वाला प्राचीनतम दृष्टि-कोण वेद की प्रतिष्ठा को बढ़ाने वाला आबालवृद्ध को सम्माननीय और मननीय है।

प्रस्तावना के लिखने वाले, अनिन्द्य और सुन्दर प्राप्त-विद्या के द्वारा स्वामी दयनान्द के मत का खण्डन करने वाले, श्री करपात्री जी की सुयोग्य शिष्य मंडली के मंडन-रूप, भक्ति के अभिराम पट्ट से अलंकृत श्री पट्टाभिराम जी शास्त्री का, श्री करपात्री जी के सन्दर्भ में अगम्भीर विमर्श-पूर्वक, यह वचन रचना-प्रहार, परिष्कृत-रुचि वाले विद्वानों को अच्छा नहीं लगता जैसा कि उन्होंने कहा है— "ब्राह्मण ग्रन्थों के वेद व्याख्यान रूप होते हुए भी, अपौरुषेयत्व होने का मनोहर मार्ग (श्री करपात्री जी ने) दर्शाया है।" ऐसे गुरुवचनों के समर्थन रूप पक्षपात में गिरने से मक्खी पर मक्खी मारने की प्रवृत्ति में निपुण विद्यासागर जी! आपने क्षीर सागर को भी क्षार सागर बना दिया।

यहां संक्षेप से कुछ विवेचन, तत्त्व-चिन्तन-मुक्ताओं को चुनने वाले, नीरक्षीर-विवेकी विद्वन्मरालों के समक्ष उपस्थित किया जाता है। जैसे कि—

वेद ग्रन्थ कौन से हैं? इस जिज्ञासा के समाधान में निवेदन है कि—यद्यपि इस विषय में यह कहा जा सकता है कि—१. संहिता २. ब्राह्मण, ३. आरण्यकोपनिषद् ४. कल्पसूत्र मीमांसा सूत्र ५. छः अंग ये पांचों वेद हैं फिर भी मुख्य रूप से यही कहा जाता है कि मन्त्र और ब्राह्मण ग्रन्थों का ही वेद नाम है इसलिए इसी विषय की पर्यालोचना की जाती है:—सर्वप्रथम हमें यह जानना चाहिए कि अर्थ के गौण और मुख्य दृष्टिकोण से—शब्दों का पारिभाषित अर्थ मुख्य और साहचर्यादि निमित्तों से विशेषार्थक और पारिभाषित अर्थ गौण होता है यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है। इसके पश्चात् हमें यह ध्यान देना चाहिए कि—संहिताओं के वेद मानने में आज तक विद्वानों में कोई विवाद नहीं उठा। केवल ब्राह्मण ग्रन्थों के वेद मानने में, तत्समर्थक कुछ सूत्रों के होने से विवाद उत्पन्न हुआ।

यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि—ब्राह्मण ग्रन्थों के वेदत्व प्रतिपादक सूत्र-ग्रन्थ पुरुषों के बनाए हुए हैं और ये सूत्र-ग्रन्थ ब्राह्मण ग्रन्थों के रचनाकाल से उत्तरकालवर्ती हैं क्योंकि उनमें ब्राह्मण ग्रन्थों का नाम आया है। सूत्र-ग्रन्थों की रचना से पहले काल में कोई भी ब्राह्मण-ग्रन्थों को वेद नहीं मानता था यह निश्चित है यदि मानता होता तो सूत्र-काल से पहले के किसी न किसी ग्रन्थ में उसका वर्णन होता।

ब्राह्मण ग्रन्थों में उपलभ्यमान वेद पद प्रयोग केवल मन्त्राभिधायी है यह बात विद्वानों को, हृदयंगम करनी चाहिये जैसे कि— 'तानि ज्योतींषि' 'स ऋचैव' इस ब्राह्मण ग्रन्थ प्रकरण में, उपक्रम और उपसंहार में ऋग्वेदादि वेदों को ही वेदाभिधेय माना है ब्राह्मण-ग्रन्थों को नहीं।

संस्कृत के महान् आचार्य शंकर ने भी 'एवं वा अरेऽस्य' इस बृहदारण्यकोपनिषद् गत श्रुति के भाष्य में ऋग्यजुः साम अथर्व का ही वेदत्व माना है याज्ञिकों ने यज्ञप्रकरण में ब्राह्मण ग्रन्थों का भी यज्ञ अविकल विधि प्रतिपादन के कारण सम्मानार्थ, वेदत्व मान लिया है। इसकी परिपुष्टि में 'तद्या प्राच्याः नद्यः' यह कथन प्रमाण है यह विशेष परिभाषा याज्ञिकों की है। वेदा सब्राह्मणाः' इस कथन में

अब पाठक गण आप ही विचार करें कि भगवान् वासुदेव को अवैदिक कहा जाय या भगवान् शंकर को ? ऐसी विषम अवस्था में श्रीमान् शंकराचार्य को प्रदत्त यह पवित्र लोक प्रख्याति कि वे षड्दर्शन स्थापनाचार्य थे हम सबको आश्चर्य के सागर में डुबो देती है।

निष्कर्ष यह है कि सुख दुःखादि फल भोक्ता परमेश्वर तो हो नहीं सकता, केवल जीवात्मा ही फल भोक्ता है। प्रकृति के बिना अपरिणामी परमात्मा को उपादान कारण मानकर जगदुत्पत्ति मानना अशास्त्रीय है। श्री स्वामी शंकराचार्य तो सांख्यादि दर्शन-विरुद्ध अपनी डेढ़ चावल की खिचड़ी पृथक् ही पका रहे हैं।[1]

यहाँ यह लिखना भी अप्रासंगिक न होगा कि इस मार्ग को भगवान् शंकर ने अद्वैतवाद के सिद्धान्त में बंध कर अत्यन्त दुराध्य और जटिल बना दिया। इस का अटल-जटिलता-पटल मायावाद से और भी दृढ़तर हो गया हैं, मायावाद ही।

अद्वैत की आधार-भूमि है। यद्यपि माया शब्द 'इन्द्रो मायाभिः' 'मा मर्त्यस्य मायिनः' इत्यादि श्रुतियों में उपलब्ध है, तथापि माया की नवीन परिभाषा तो आचार्य शंकर की अपनी देन है। वैदिक साहित्य में माया शब्द प्रकृति वाचक है जैसे कि कहा है 'मायां तु प्रकृतिं विद्धि मायिनं तु महेश्वरम्' इत्यादि। परन्तु भगवान शंकर के मत में माया सद् असद् विलक्षण ब्रह्म की कोई अनिर्वचनीय शक्ति है देखिये :—

'है भी, नहीं भी है और उभयात्मिका भी नहीं है, साङ्ग भी है अाङ्ग भी है और उभयात्मिका भी नहीं है, ऐसी है यह माया जो अद्भुत और अनिर्वचनीय है।'

यही निखिल जगत् का प्रसव करती है पर ब्रह्माश्रित रहकर भी ब्रह्म का आवरण कर लेती है। परन्तु लोक में ऐसा कोई दृटान्त उपलब्ध नहीं होता।

---

१. इस शब्दावली के लिखने का मेरा साहस क्षम्य भी है क्योंकि मेरा विश्वास है कि महाप्रज्ञ शंकर को यह मत बौद्धों के मत के समुन्मूलनार्थ कर्म ही प्रतिपादित करना पड़ा था।

वास्तविकता यह है कि प्रकृति जीव तथा ईश्वर ये तीन पदार्थ अनादि अजन्मा तथा दृश्यमान सर्वजगत् के कारण हैं। इनका कोई अन्य कारण नहीं। जैसे कि श्रुति है :—

'अजमामेकाम्' अर्थात् अनादि जीवात्मा अनादि प्रकृति का भोग करता हुआ उसमें सक्त होता है। परन्तु परमेश्वर तो प्रकृति को न भोगता हुआ अनालिप्त रहता है।

एक ही ब्रह्म की घोषणा करते हुए नवीन मायावादी ये नहीं जानते हैं कि वे जड़पूजा में रत रहते हुए भी किस प्रकार प्रत्यक्ष-सिद्ध जड़ प्रकृति का अपलाप कर सकेंगे। स्वगत भेद शून्य ब्रह्म में सजातीय विजातीय भेद शून्यता (आत्मा सजातीय और प्रकृति विजातीय) की सत्ता होने से नहीं ठहर सकती, पर सजातीय और विजातीय अन्य ब्रह्म कोई नहीं, इतना सब कुछ विचार करके महर्षि दयानन्द सरस्वती ने समस्त शास्त्रों की प्रतिष्ठा के पुनः स्थापनार्थ वेद-सम्मत त्रैतवाद और वेदों में आख्यानों के इतिहास रूप में अभाव आदि विषयों का तत्तत् स्थानों में सम्यक् विवेचन किया है, यह विद्वानों को सुविदित है।

बद्धपरिकर श्री स्वामी करपात्री जी ने न्यायादि दर्शनों में पारस्परिक-विरोध का प्रतिपादन करते हुए वेदार्थ-पारिजात ग्रन्थ को लिखा है।

इस 'वेदार्थ-कल्पद्रुम' नामक ग्रन्थ में 'वेदार्थ-पारिजात' के लेखक के अपमान के उद्देश्य से विद्वान प्रणेता ने कुछ भी नहीं लिखा है। तथापि महर्षि दयानन्द के प्रति करपात्री जी की अभद्रशब्दावली ने लेखक के मन को उद्विग्न कर कठोर पद प्रयोग करने के लिए यत्र तत्र विवश कर दिया है।

सम्प्रति समयाभाव से इस 'कल्पद्रुम' में वेद-संज्ञा, वेद नित्यत्व, वेद-विषय विचार प्रकरणों पर ही किए गए आक्षेपों का संक्षेप में निराकरण किया है। भविष्य में यथा-सम्भव अशेष समाधान प्रस्तुत किया जाएगा।

अन्त में, मैं यहाँ अपनी छोटी बहिन पुराणेतिहास वेदाचार्या सावित्रीदेवी के आत्मज अपने भागिनेय पाण्डलिपि तैयार करने में निरत चि० कविक्रतु शर्मा तथा प्रमाणान्वेषण में सहायक स्वपुत्र आचार्य चिरं. मेधाव्रत शर्मा तथा स्वपुत्री आचार्य मंजुला को अमित स्नेह भावभरित शुभाशि राशि-संकलित मन से, इस कामना से स्मरण कर रही हूं कि ये सभी, महान् परोपकारी वेदोद्धारक महर्षि दयानन्द सरस्वती के सुपरीक्षित मार्ग पर स्वयं चलकर उनके सत्य-सिद्धान्तों का प्रचार एवं प्रसार करेंगे ।

निवेदयित्री
निर्मला 'मिश्रा'

FOREWORD

The recent discoveries in the Indological branch of the learning have opend floodgates of deeper research everywhere, particularly in the western words. Indeed, it is vary exhilerating that even in the present era, scholars are busy in the contemplation of the Vedas. More heartening is the fact that the traditional pundits are also sincerely busy in the gross studies fairly with a critical mind and thereby collcting, and picking up from the most ancient, rather eternal, treasure-house of the Vedas. They are publishing the rational and appropriate interpretations of the Vedic literature; which are indeed reliable and relevant, both. It is an irrefutable fact that indeed the Vedas are the most ancient and divine composition in the world, and the collection is treated as the colleciion of the eternal voice of God by innumerable devotees.

Very recently it came to our notice that Shri Karparriji is to bring out his commentaries on the Vedas and recently the first volume of his voluminous work of the VEDARTHA PARIJATA has been brought out. Sanskrit being the mother tongue of our family, naturally we nurture great reverence to Sri Karpatriji for his being an eminent Sanskrit scholar. But on the persual of his above monumental work, we felt utmost disappointed and extremely astonished, because this Sanskrit scholar (Karpatriji) has vowed to make total rebutment of the RIGVEDADI BHASHYA BHUMIKA of Maharshi Dayanand Saraswati. In it, Sri Karpatriji has used highly defamatory and abusive language against Maharshi Dayananda, and it plunged us in to deep anguish and pain and has shaken our faith in his fairness, though differences in opinion can not in any way be questsoned as ill-will.

Lying at the patient-bed, the author of this VEDARTHA KALPADRUMA, on learning of the above composition took a vow to reply to this hypocritical voluminous composition of Karpatriji, Failing to counteract the pseudo-points contained like in the VEDARTHA PARIJATA, a sensible scholar of the Vedas and the inquisitive explorer of the Indian culture would shake off his devotion, and loose faith in the eternal Vedic values and truth. Rather, he may presume the untruth to be truth, and it may prove ominous for him and for the entire mankind. The author of the 'VEDARTHA KALPADRUMA' with a pious view to present the well ascertained Truth, has brought out this composition, in a fairly decent and humble way.

A closer reading of the 'VEDARTHA PARIJATA' has revealed that Karpatriji has brought out his misleading comppsition, in a completely biased, superstious, partisan and malicious way. Most authentic and reliable rejoinders to his false propositions and imaginary misapprehensions have been refuted and axed here by this author in this disposition,

It is astounding that the so-called professing scholars have shunned the course of debate and discussion on religious matters and themes aimed at reaching the genuine conclusions. And consequently they suffer in their whole life from the vested interests and superstition which are incoherent to rationality, logic and reason. Some of the ancient scholars, even in this age, prescribe on Vedic authority idolatery, posthumous devotion to the manes (मृतक श्राद्ध), oblations of animal flesh in the (Havan) religious sacrificing of gods and goddesss. Thus they misleadingly try to confine and limited the Omnipresent God within certain boundaries and forms of a particular nation. They declare it all fully in tune with the Vedas. They are trying to make historits out of the Vedas and to prove that the BRAHMANA GRANTHAS are the Vedas, itself. They

are trying to propound and establish the ADVAIT (Neo-Vedanta) by non-accepting the existence of nature and living being (जीव).

(A) Those, who keep faith in the eternity and philosopey of the Vedas, they never invite histories in their interpretaions. They interpret the tales, stories, dialogues nomenclatures and the themes of PURURAVA-URVASHI, VASISTHA- VISHWAMITRA, INDRA-VAJRA etc, metaphorically and scientifically in tune with the philosphy of enternity as propounded aud prescribed by 'Yaska in Nirukta, the clear logic is that the existence of transitory theme can not form the contents of the eternal Vedas. Referential or apparent themes are significant and divine. Maharshi YASKA has also prescribed the path to interpret the appearent metaphorical mantras in the terms of eternal philosophy; as VAJRA astands for the cloud, while INDRA signifies the Sun and the lightning.

(B) There is no element of rationality to trace out histories in the Vedas by all the right thinking and reasoning persons.

While texturing the stories of SHANTANU AND DEVA describing the tales of SUDASA etc. finding the names of the river GANGA etc., noticing the references of the States like Matsya etc. in the Vedas even the exegetists, like SAYANA, VEDAYATI, MADHVA, BHATTA BHASKAR, MAHIDHARA etc. remain fetterred in the delusive snare of historical effusions admitting only the delusive historical tales as the Vaidika preachings. They further proceed to the extent of treating even YASKACHARYA as an explorer of histories in the Vedas on noticing such a phrase from him—'TATRETIHASAMACHAKSHATE' तत्रेतिहासमाचक्षते The history is traceable in the Vedas. But, in fact YASKACHARYA clearly confirms the absence of histories in the Vedas by refuting the historical interpretationists extracting meanings by significance (ARTHANTAR) only. In the same

ancient tune, Maharshi Dayananda Saraswati has also justified and advocated only the non-historical aspect of the Vedas. This most ancient view is venerable to all young and old scholars, alike; it inhances the grandeur of the Vedas.

The author to the Preface of the 'VEDARTH PARIJATA of Sri Karpatriji is the prime among his own disciples,— Sri Pattabhi Rama Shastri, Vidya Sagar, and he has not aptly and correctly drawn an inference. In fact, It is far from being reasonable. Sri Karpatriji has prescribed fascinating path to attain the Supreme God and has treated the BRAHMANA GRANTHAS on the deliberations of the Vedas. Such an adulation to his master or mentor is not only an act of blind imitation, rather such a tendency is sure to transform the Holy Ocean of Milk (KSHEERA SAGAR) into an ocean of brine water. Therefore, here are preferred some deliberations as quinteessence before their adove concept is clear enough. The vital question is on which scriptures are related to the Vedas? In this context, here are some humble submissions and points.

(i) There has never been any controversy regarding the Sanhitas as being the Veda. All are agreed on this point and are of the same view.

(ii) In the BRAHMANA GRANTHAS, for Vaidika devotion such terminology appears-- "Mantra Brahmanayordnamadheyam" which means that the BRAHMAN GRANTHAS also pertains to the Vedas.

The above referred man-propounded (PAURUSHEYA) KALPASUTRAS are of the posterior period and hence were never applied to the BRAHMAN GRANTHAS of the earlier period, as there is a vast periodical gap between the two periods, use of the term the Veda, available in the BHRAMAN GRANTHAS, devote only to the mantras, as is apparent from 5.5.7 of the AITAREYA BRAHMAN.

Even the most venerable scholar ACHARYA SHANKRA in his commentaries of 'EVAM-VA-ARE' from the BRIHADARANYAKA UPANISHAD' has acknowledged this existence of only four Vedas — the Rig, Yajur, Sama and Atharva. Under the impression of the definitition Mantra Brahmana Yornama-dheyam given by the Yajnikas and the details of the Yajnas being dealt with the BRAHMAN GRANTHAS were also treated as the Vedas; in fact, they are other than the Veda. A closer study of scripturs reveal that the BRAHMAN GRANTHAS are sub and secondary ordinate to the Vedas.

Subsequently the confusion was further aggravated by the composition of the 'KRISHNA YAJURVED' in which Vaidika and Brahmanic contents are intermixed and it becomes acutely difficult to differentiate as to which material is the Vedas and which the Brahmana. Later on, this criterion was evoleed whereas the Brahmana is the VINIYOJOKA (विनियोजक), the mantra is the remainder of the ANUSHILANIYAM KARMA'. But these criteria are not free fallacies. These suffer fallacy of 'AVYAPTI' and and ATIVYAPTI' as defined in the logic.

The author of the preface to the VEDARTHA PARIJATA, Shri Pattabhi Ram Sastri has also taken the BRAHMAN GRANTHAS as the interpreters of the Vedas. It seems that the learned Karpatriji and his Preface-Author Sri Pattabhi Rama Sastri have failed to solve the riddle of the difference between the Vedas and the BRAHMAN GRANTHAS and in consequence missed the quintessence of the Vedas in the gloom created by the conceptions of the BRAHMAN GRANTHAS. Only due to having relation with the Mantras (the Veda), the BRAHMAN GRANTHAS can not be treated as the Vedas. The Vedas are the words of the Supreme God, whereas the BRAHMAN GRANTHAS are the composition by men and hence the lack in Vedic characteristics. The HARIVANSHA PURANA And GOPATHA also recognise

only the four Vedas and none else (like BRAHMAN GRHANTHAS ETC), as has also been done by the MAHA-BHARATA' and the SARVANUKRAMANI'. It is awfully strange as to how Sri Karpatriji has given the BRAHMAN GRANTHAS the Divine Status of the Vedas, because the BRAHMAN GRANTHAS are not the Divine MANTRAS-they are the compositions by human beings. His evaluation is therefore non-serious and a hastry conclusion in the eyes of the critics of the Vedas.

The last but not the least, is the noticeable issue pertaining to God. Here is the question; whether only God has His existence, or soul (JEEVATMA) and Nature (PRAKRITI) have also existence of their own. There may be similar other relevant questions a so, but here we have to confine to the key-question referred to above.

On this issue, our systems of philosophy (DARSHANAS) do not differ-rather they appear to be suplementary to each other. This was ACHARYA SHANKAR, who for the first time heralded contradictions in the DARSHNAS (Systems). Acharaya Shankara rebutted, for the first time, the learned composer of the SANKHYA, MAHARSHI KAPIL, who confirms to the existence of the soul and the Nature along with the existence of the Supreme God. As is apparent in the 1st and 3rd Sutra of the chapter II of his commentaris of the VEDNTA DARSHAN, he has gone to the extent of ignoring the great SANKHYACHARYA MAHARSHI KAPIL, who could dare to stop ACHARYA SHANKARA from making his subjective and fallaicious evaluation in such contexts. But later on, ACHARYA SHANKARA seems to remain dazzled in the bewildering brilliance and lustre of our luminous scriptures, because in the wake of his conscience, he confuses the super status of the composers of the DARSHNAS in such words— "Who shall believe in my delideɹation, while the compositions of Kapil etc. exist?

In his gush of spiritual confusion, ACHARYA SHANKARA declares MAHARSHI KAPIL, who believed in the dual existence of God and the soul as A-Vaidika, and Maharshi KANADA who believed in atomic theory, as a follower of the Budhist dectrines(VAINASHIKA) ACHARYA SHANKARA thus, very arbitrarily treats all the five composers of the DARSHNA leaving only Maharshi VYASA as believers of multi-soul theory (ANATMAVADA), and hence in his view, all of them are AVAIDIKA. But it to be noted that the remaining composer of DARSHNA, VYAS DEVA, in his commentary of the YOGASUTRA has propounded the Multi-soul Theory (NANATMAVADA). Now our learned readers are to determine as to who is AVAIDIKA, ACHARYA SHANKARA or LORD VYASA DEVA? In the eyes of an impartial critic, revered ACHARYA SHANKARA, due to his unwarranted fault finding nature and due to his act of damaging the glorious edifice of the DARSHNAS, has fostered a path of discrepute for his own-self.

In conclusion of the deliberation of this issue, it is to be confused that God is not supposed to experience wordly-pleasure and pain-it is, infact, the soul (JEEVATMA) who does it. It is non-scientific to think of the creation of the world without the aid of the Nature (PRAKRITI).

My bold contentions in the instant context are pardonable, because ACHARYA SHANKAR has himself separately accepted entirety of the soul (ATMA), and the Nature (PRAKRITI) along with the entity of God (BRAHMA) here and there in his compositions. It is fruther to be noted that ACHARYA SHANKARA has had to propound his theory circumstantially hence to make a mince of all of the Budhists. And on this issue, he has gone out a tune for a critic of the Indian scriptures.

Regarding the MAYA, ACHARYA SHANKARA has further propounded his own arbitrary view which is entirely contradictory to the Vaidika traditions. Before ACHARYA SHANKARA references to the MAYA were available, in the Vedas (SHRUTIS) like.

'INDRO-MAYABHIH-PURURUPEEYATE', SA MARTYASYA MAYINAH' etc. ACHARYA SHANKARA treats the MAYA as a unique and undescribable power of God. In describing the MAYA, he presents strongly contradictory statements treating the MAYA as subordinate to God and yet God-pervading. Thus, ACHARYA SHANKARA has complicated the simple and serene ADVAIT philosophy.

In fact, God (BRAHMA), the Nature (PRAKRITI) and the soul (ATMA) are eternal and infinite and this is the cause of this creation. The eternal soul experiences and enjoys the eternal nature. God remains indifferent from the Nature and is impassable by it.

Thus, we find that too much fuss had been heaped up around the Vaidika philosophy and various commentators, interpreters, and religious sects made it more and more complicated. In this context, Maharshi DAYANANDA SARASVATI made vigorous efforts to re-establish the out-worn and decaying reputation of our scriptures quite in tune with the VAIDIKA traditions, by making our Vedas free from historical narration and purging them from the misconceptions imposed by the religious adventurers.

In his 'VEDARTHA PARIJATA', Karpatriji restarted arbitrary interpretations of the Vedas and allied scriptures. He finds mutual contradictions in the NYAYA and other DARSHNAS. He repropounds Neo-VEDANTA by accepting the existence of God oniy. MAHARSHI DAYANANDA in conformity with the Valdika traditions, adopted the doctrine of Tinity (TRAITAVADA) accepting the existence of eternal and infinite BRAHMA, JEEVATMA and PRAKRITI, but in the meantime he has interpreted the VAIDIKA tales and words in the right VAIDIKA manner.

In this 'VEDARTHA KALPADRUMA', the learned author has not the least intention to rebut or to disgrace the author of the 'VEDARTHA PARIJATA' Swami Karpatriji or the writer of the Preface, but he has been complelled to

use some harsh words here and there due to Karpatriji's inauspicious words and terminology used against Maharshi Dayananda, which definitely seems to have caused him also to feel distressed.

In this first volume of the 'VEDARTHA KALPADRUMA' all the critical allegations under the heads of VEDOTPATTI (origin of the Vedas) and VED NITYATVA (Eternity of the Vedas) have been dealt with reasonable VAIDIKA interpretations alongwith some of the ill points raised under the head 'VED VISHAYA VICHAR', (Deliberations on the contents of the Vedas). Due to lack of time and, as I have been apprised, shortly other volumes of the 'VEDARTHA KALPADRUMA' are to be published in and then the right solutions to the remaining ill-points along with the relevant original Vaidika deliberations would appear.

The Sarvadeshik Arya Pratinidhi Sabha of the Arya Samaj has been publishing books of social, national, spiritual and moral importance in other languages, time to time, but this 'VEDARTHA KALPADRUMA' is its first Sanskrit-based publication, and hence this effort is really laudable. I, personally, feel thankful to the President of the Sarvadeshik Arya Pratinidhi Sabha, Lala Ramgopal Shawlwale, who is a staunah and fully dedicated Arya Samaj leader, and who inspired the author with the spiritual mission of Swami Dayananda Sarasvati to bring out the 'VEDARTHA KALPADRUMA in time. The Vedas, as has been stated, are the Divine Words of the Supreme God and hence religious adventurers have no right to put them in the gloom of their own subjective and arbitrary deliberations. The Vedas have provided India religious and spiritual supermacy and the Sarvadeshik Arya Pratinidhi Sabha will ever safeguard this status, with the band of true followers of the Vedas.

Nirmala Misra
Puran-Itihasa—Sahitya Acharya, M.A.

वेदार्थ-पारिजात-पर्यालोचनम्

कोलाहलो महानासीत् सर्वस्मिन्नपि मण्डले ।
समुद्घाट्य यदा दृष्टं, प्राप्तो मृतक-मूषकः ॥

सेयमुक्तिः वेदार्थ-पारिजाते संघटते । कथमिपि चेत् ? श्रूयताम् । अयि ! महानुभावाः, नाविदितं विदितयशसामार्य-विदुषां यदयं स श्रीमान् यतिवरकरपात्रि-महोदयः यः खलु निखिलजगदग्रणीभारत-धरणी-शिरोमणीयमानमानवायां नाभिनकायां यशस्कर्या मिन्द्रप्रस्थ नगर्या प्रवहद्धीरसमीरे तरणितनूजातीरे धर्मसङ्घजनस्य यजनाय जायमानाधिवेशनस्या ऽग्रसरेऽवसरे नैकेषु पौराणिक-सिद्धान्तेषु संस्कृते शास्त्रार्थकरणाय श्लोकबद्धां घोषणां प्राकाशयत् ।

तदुत्तरे समस्तेन्द्रप्रस्थीयार्यसमाजशिरोमणिः दीवानहालेतिनामा-ग्रणीः आर्यसमाजः तां शास्त्रार्थ-घोषणां स्वीकृत्य आर्यविद्वद्धौरेयैः स्वर्गीय श्री पं० हरिदत्तशास्त्रि षोडशतीर्थसहायैः स्व० श्री पं० व्यासदेवशास्त्रिप्रमुखैः शास्त्रार्थमहारथैः यमुना-तटे शास्त्रार्थमकार-यत् । संस्कृतलिपिबद्धे च शास्त्रार्थे ते पौराणिकविदुषः पराजयन्त ।

तन्मौखिक-शास्त्रार्थ-पराजयाग्निदग्धचेताः इव लज्जापेतः श्री हरिहरानन्दमूलनामा करपात्रीतिसंन्यासोपनामा महानुभावः आर्य-सामाजिकान् पुनर्जिगीषुरिव लब्धविकासं लिखितप्रयासमेकं पुनश्चकार । स एव प्रयासः वेदार्थ-पारिजातो नाम ग्रन्थः ।

अस्मिन् ग्रन्थे धन्य-धन्यस्य महर्षिदयानन्दस्य मानोष्णीषमुच्चि-कीर्षुः ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायाः समुन्मूलनं चिकीर्षुरसौ करपात्र-महोदयः स्ववैदुष्यं प्रदर्शयितु प्रायतत ।

महर्षि-दयानन्दे मृषादोषारोपणमेवास्य लेखकस्य धेयं, तत्कृतवद-भाष्यभूमिकायाः कर्णहत्यखण्डनमेवास्य विधेयं, वृथापरछिद्रान्वेषण-मेवस्य मुख्यं लक्ष्यम्, अयुतगप्पाष्टिका-संयुत-पुराणाद्येवाऽस्य प्रमुखं साक्ष्यं, नाप्यस्य वेदार्थ-वैदुष्यं नाऽपि वेदभाष्यकार-महीधरोव्वटादिकृत वेदभाष्यत्रुटिषु मनागपि असामञ्जस्यमस्य दृश्यते क्वचित् ।

किञ्चायं महर्षिदयानन्दोद्धृतोद्धरणस्य सङ्गतप्रकरणस्य वाक्यस्य वाक्यांशस्य वा अपूर्णोद्धरणे परिवर्त्योद्धरणे वाऽदसीयं स्वकीयं गौरवं मनुते । एतच्चाऽविकलं यथास्थलं वेदार्थ-कल्पद्रुमे विस्पष्ट-मस्ति । अत्यन्तं खेदास्पदं चेदं यदयं साधुरपरसाधोः श्रीमतो दयानन्द-स्योत्कर्षं ख्यातिं चाऽसहमानः ईर्ष्यालुपदं भजमानः नैकत्र निरर्थकं छिद्रान्वेषणं कर्त्तुं प्रावर्तत । किमधिकमसौ क्वचित्तु स्वामिनं दयानन्दं निग्रहस्थानं निनीषुः स्वयमेव निग्रहस्थाने समापतदित्यपि स्पष्टं तत्रैव वेदार्थ-कल्पद्रुमे ।

अपशब्द-वर्षणम्

एतस्य वेदार्थ-पारिजातस्य रचने द्वादशाधिकैः विविधविषय-विशेषशेमुषीकै विद्वद्धौरेयैः प्रणेतुरस्याप्रणाय्यं साहाय्यं व्यधायि । तत्रैको मीमांसानागरः श्री पट्टाभिराम शास्त्रि-विद्यासागरः ग्रन्थस्यै-तस्य प्रस्तावनां प्रास्तावीत् । तत्र हि करपात्रानुरागो महानुभावोऽय-'मार्यसमाजम्' अतिभयङ्करं नूतनमतमित्यभिदधानः आर्यसमाजि-कांश्च क्वचिद् "इमे वेदमातुः केशकर्षणे शीलभङ्ग-निर्लज्जाः" क्वचिदनिश्चितसिद्धान्ताः, कुत्रचित् शास्त्रेषु यथामति प्रक्षिप्तांशं मन्यमानाः कुत्राऽपि आक्रमणकारिणः धूर्ताः, क्वचित् पूर्वापरसन्दर्भ-समवलोकने अन्धा इव, क्वापि कूष्माण्डचौरा इव, क्वचिच्च लोक-शास्त्रवञ्चकाः सत्यमेव पश्यतोहराः" इत्यादिभिरपशब्दैराक्षिपन् न मनागपि सङ्कोचमाञ्चत् ।

ग्रन्थलेखकश्चापि महर्षिदयानन्दं प्रति 'दूषयामास सर्वां तां पद्धतिर्या सनातनी,' क्वचित् 'प्रमत्तवत् प्रमाण-विरुद्धं प्रलपन्,' क्वचिच्च दयानन्दस्य बालभाषितमित्यादितिरस्कारपुरस्सरैरपशब्दैः व्यवाहार्षीत् । तदस्य साधोरपरसाधुं प्रति असाधुशब्दप्रयोगो न साधुः ।

गते कतिपये काले यमुनातीर-संस्थिते ।
इन्द्रप्रस्थे हि यः प्रान्ते, महायज्ञमकारयत् ॥१॥
स एव खण्डितवानत्र[1] ग्रन्थे यज्ञ-समुद्भवान् ।
दयानन्दोक्तलाभांस्तु, किमाश्चर्यमतःपरम् ॥२॥
पर-खण्डन-पाण्डित्यं, दृश्यते 'पारिजातके' ।
अनिर्णीतश्च सिद्धान्तः, पूर्वापर-विरोधिता ॥३॥
'व्यासेन[2] ऋषिभिश्चेह' व्यासस्यानृषिभावनम् ।
'धार्ष्ट्यमिति[3] वदेद्यस्तु, किमाश्चर्यमतः परम् ॥४॥
बलीवर्दस्यगोश्चैव, न्यायं यो नेह वेत्ति सः ।
दूषयति ह्यदूष्यं यत् किमाश्चर्यमतः परम् ॥५॥
केचित्सन्ति तवाक्षेपाः असारास्तर्कवर्जिताः ।
कृताः साधो त्वया मन्ये, 'ज्ञानमध्ये'[4] निदर्शनम् ॥६॥

व्याकरण-वैदुष्य-परीक्षा

सम्प्रति, व्याकरणवैदुष्यं परीक्ष्यतामस्य वेदार्थकृतः ।
'त्रयो व्याहृतयः' शब्दौ, प्रयुञ्जानः स्वपुस्तके ।
त्रिलिङ्गं यो न जानाति किमाश्चर्यमतः परम् ॥१॥
'छन्दोपद' मितिश्रेष्ठं मन्यते यो हि सन्धिकृत् ।
प्रवृत्तो छन्दसां भाष्ये, किमाश्चर्यमतः परम् ॥२॥
विषयसप्तमीं जान नधिकरणभिन्नजाम् ।
लिखति यः स वै वेत्ता ? किमाश्चर्यमतः परम् ॥३॥
मक्षिकायाः निपातस्तु ग्रासादौ गतो हि सः ।
'श्रीलक्ष्म्यैः' च 'गणेशायः'[5] विसर्गान्तौ यदालिखत् ॥४॥
अध्यानेन लिखितं चेन् मुद्रणेवाऽपि सम्भवम् ।
न शोभते कथञ्चित्तु ग्रन्थादावेष दोषकृत् ॥५॥

(१) (पृ. ५५० पं.२) (२) अनुकृतशब्दत्वान्नसन्धिः (३) (पृ. ५०४ पं. ६) (४) पृ. ४६५ पं. ७। (५) पृ० ५०४ इत्यत्र तु 'साक्ष्यत्वात्' इत्यत्र 'त्व' स्थाने त्वल् प्रत्ययबोधनतु करपात्रिण एव त्रुटिः न मुद्रणस्य ।

किञ्च भो यते ! (वे. पा. पृ. ५४४) इत्यत्र 'अत्र मुण्डकोपनिषदितु महर्षेरङ्गिरसो ब्रह्मविद्याप्राप्तिपरम्परामुक्त्वा ततो ब्रह्मविद्यामधिजिगांसुर्महाशालः शौनकः तं पप्रच्छ' इत्यादौ त्वद्वाक्ये 'अङ्गिरसः' इति पदे कतरा विभक्तिः पञ्चमी षष्ठी वा ? पञ्चमी चेत्कथं साधु षष्ठी चेत् कथम् ? यदि तावत् महाशालः शौनकः अङ्गिरसं ब्रह्मविद्याप्राप्तिपरम्परामुक्तवान् तदा तु पञ्चमी षष्ठी चेत्युभेऽपि विभक्ती अपाणिनीये, यतः गौणे कर्मणि दुह्यादेरित्यादि-नियमात् बच्धातोः गौणकर्मणि 'अङ्गिरसि' द्वितीयाविभक्ति-प्रसङ्गः । वस्तुतस्तु शौनकः ब्रह्मविद्याप्राप्तिपरम्परामङ्गिरसं नोक्तवान् अपितु सत्यवहः भारद्वाजः उक्तवान्, यथा चोक्तमुपनिषदि-'प्राहभारद्वाजोऽङ्गिरसेपरावराम् । शौनको स वै महाशालोऽङ्गिरसं··· पप्रच्छेति । अतः 'महर्षि अङ्गिरा से ब्रह्मविद्याप्राप्ति-परम्परा को बताकर उससे महाशाल शौनक ने पूछा' इति वदन् हिन्दीकारोऽपि मुण्डकोनिषद्प्रसङ्ग-ज्ञाने सर्वथा भ्रान्त एव ।

किञ्च 'उक्त्वा' इत्यस्य कर्त्ता भारद्वाजः पप्रच्छेति क्रियायाः कर्त्ता च शौनकः, अतः ग्रन्थकारस्य उक्त्वेत्यत्र त्वा प्रत्यय-विधानं सर्वथा अपाणिनीयं, समानकर्तृकत्वाऽभावात्, अतएव

स्वयं कुर्वन्नशुद्धिं यां, 'त्वा' प्रत्यय-विधायिकाम् ।
'ज्ञानं भवेत् मनुष्याणां श्रुत्वोपदेश'[1] मत्रतु ॥
दयानन्दीय-वाक्ये वै, तामाक्षिपन् न शोभसे ।
परच्छिद्रसमन्वेषः दृश्यते ते तु भो यते !
तदेवं व्याकरण-वैदुष्यं बहुत्र चिन्त्यम् ॥

छन्दः समीक्षा

श्री करपात्रिमहोदयः स्वग्रन्थे मुख्यतया एकम् अनुष्टु बिति छन्द एव प्रायुङ्क्त । यच्च अत्यन्तं सरलं साधारणञ्च । परं 'तत्राऽपि बहुत्र त्रुटयः सन्ति' इति महदाश्चर्यम्, यथा

क—श्लोकभूमिकायां—'प्रादुश्चऋभाष्यनाम्ना' इति चरणे पंचमं 'भा' इत्यक्षरं 'पञ्चमं लघु सर्वत्र' इति नियमानुसारं लघु स्यात् परमिदं दीर्घमस्ति ।

(१) पृ० ४६१ पं० १४

ख—एवमेव मार्कण्डेयोब्रह्मचारी 'मुसलगांव गजाननः' इत्यत्र द्वितीयचरणे नवाक्षराणि, यदा च नियमानुसारमष्टैव स्युः।

ग—मम विचारे ग्रन्थेऽस्मिन् करपात्रिणः 'अनुष्टुप्' छन्दोऽतिरिक्तं केवलमेकमेव छन्दः, तच्च 'शार्दूलविक्रीडितं' तत्रापि त्रुटिः प्रारम्भे एव। तथाहिः—

'येषां पितृपितामहादिपुरुषा आसन् सदा वैदिकाः'
इत्यत्र 'पि' अक्षरं लघु, यावताऽत्र दीर्घं स्यात्।
अतः छन्दो-रचनादृशा श्रीकरपात्रिणः वैदुष्यं दूष्यमेव।

काव्य-दोष-निरीक्षा

सम्प्रति काव्यदोषा अपि निरीक्ष्यन्तेऽस्य श्लोकेषुः—अयं हि तावद् स्वश्लोकभूमिकायाम्—(क) 'अस्माभिर्ग्रथितस्यास्य देववाणी-मयस्य च' इत्यत्र श्लोके अस्येति सर्वनाम-पदं कस्य परामर्शकम्? इति न ज्ञायते। ग्रन्थस्येति तु न वक्तुं युक्तं, पूर्वत्र तस्यानिर्दिष्टत्वात्, अतोऽत्र अभिमतस्यानुपपस्थितौ तत्सम्बन्धाऽभावात् अभवन्मत-सम्बन्धरूपः दोषः मुख्यस्यविधेयस्यानिर्देशाच्च विधेयाविमर्शरूपश्च काव्यदोषः।

ख—किञ्च 'लोकानामुपकाराय, भवेद् हिन्दीमयोऽपि च।' इत्यत्र तवश्लोके हिन्दीमय इति विशेषणं, तत्कस्येति न ज्ञायते? पूर्वत्र ग्रन्थादि-शब्दस्यनिदशाऽभावात्। हिन्दीमयोभवेदित्यत्र च न कश्चन कर्त्ता निश्चीयते विशेष्यस्याऽभावात्। न चेदं विशेष्यं सम्भवति। हिन्दीमय इति हिन्दीप्राचुर्ययुक्तस्य कस्याप्यन्यस्यैव ग्रन्थादेः सम्भवात्। पूर्वत्र तु 'अस्माभिर्ग्रथितस्यास्य' इत्यादिपदानां षष्ठी-निबन्धनात् हिन्दीमय इति प्रथमान्तेन सह न सम्बन्ध-सम्भवः। किञ्च भवेदिति क्रियायाः कर्त्तुरत्रानिर्देशात् न्यूनपदत्व-रूपः दोषोऽपि।

नन्वत्र 'हिन्दीमयोऽपिचेति विशेषणं येषामित्यादि-पूर्वश्लोक निर्दिष्टस्य 'श्रम' शब्दस्येति 'चेत्तदपि न युक्तं, दूरान्वयात्, मध्ये तु 'परम्पराप्रवृत्तस्य' इत्यादिश्लोकस्य व्यवधानात्। पुनरपि कथञ्चित्

यदि पूर्वोक्तः 'श्रम' शब्दः परामृश्यते, तदापि 'अस्माभिर्ग्रथितस्यास्य श्रमस्य देववाणीमयस्य लोकानामुपकाराय, स च श्रमः हिन्दीमयोऽपि भवेत् इत्यन्वयः स्यात्, स च न साधुः। 'स च श्रम' हिन्दीमयो भवेत् इत्यत्र 'स च श्रम' इत्यस्य अध्याहार-गौरवात्। किञ्च अध्याहृतेऽपि 'श्रमे' नेयार्थदोषापत्तिः, केनाऽपि श्रमस्याऽग्रन्थनात्। अथाऽपि हिन्दीमयः अनुवादः स्यात् इति कल्प्येत तदापि 'अनुवाद' शब्दस्य अध्याहार अपेक्षितः स्यात्। तदेवं श्लोकोऽयमितोऽपिभ्रष्टस्ततोऽपि भ्रष्ट इति प्रसिद्धि चरितार्थयति।

वेदार्थ-करण-समीक्षा

वेदार्थकरणाय तदाधारभूतस्य निरुक्तस्य टीकायां मन्त्रार्थ-विषये प्रतिपादितम् :—

'नह्येतेषु अर्थस्येयत्तावधारणमस्ति। महार्था ह्येते दुष्परि-ज्ञानाश्च। यथाश्वारोहणवैशिष्ट्याद् अश्वः साधुः साधुतरश्च भवति एवमेते (मन्त्राः) वक्तृवैशिष्ट्यात् साधून् साधुतरांश्चार्थान् स्रवन्ति' इति।

परं वेदार्थ-पारिजातकृदयं निरुक्तोद्दिष्टां अनेकार्थदर्शिकां यौगिकार्थ-द्वारा मन्त्राणामनेकार्थप्रदां शैलीं परित्यज्य शब्दार्थानां रूढामेव शैलीं समाश्रयन् महर्षिदयानन्दकृतान् निर्वचनाश्रितान् निरुक्तव्याकरण ब्राह्मणादिप्रमाणसमर्थितानपि वेदार्थान् दूषयितुं प्रावर्तत इति महत्खेदास्पदम्। तथा हि निदर्शनमेकं दृश्यतामस्य समर्थने :—

त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्।
यद्देवेषु त्र्यायुषं, तन्नोऽस्तु त्र्यायुषम्॥

अस्य मन्त्रस्य महर्षिदयानन्दकृतोऽर्थः—

'हे ईश्वर! जमदग्निसंज्ञकस्य चक्षुषः कश्यपनाम्नःप्राणस्य त्र्यायुषं त्रिगुणमर्थात् त्रीणि शतानि वर्षाणि यावदायुरस्तु। देवेषु विद्याप्रभाव-युक्तं यत् त्रिगुणमायुः भवति। तन्नाऽस्तु। तत्सेन्द्रियाणां समनस्कानां नोऽस्माकं पूर्वोक्तं सुखयुक्तमायुरस्तु' इति। सोऽयं जमदग्नि-शब्दस्य

निर्वचननिसृतः यौगिकार्थः ब्राह्मणग्रन्थ-प्रमाणितः । तथा हि चक्षुर्वै जमदग्निः यदनेन जगत्पश्यति इत्यादि । कश्यपो वै कूर्मः प्राणो वै कूर्मः इत्यादि चेति । (शतपथब्राह्मणम्) 'शतायुर्वैपुरुषः' 'जीवेम शरदः शतम्' इत्यादि-वचनैः वर्षाणां शतं पुरुषस्यायुस्तत्र त्रयाणामायुषां समाहारः त्र्यायुषमिति । (त्रीणिशतानिवर्षाणि इति यावत्) पाणिनीयादिव्याकरणसम्मतोऽर्थः ।

परमीदृशः परिपुष्टोऽपि मन्त्रार्थः अत्रिणा[1] करपात्रिणा गौरवान्वितः तर्कप्रमाणसंगतः खण्डित इति महदाश्चर्यम् ! वेदेष्वनित्येतिहासं मन्वानः तत्समर्थनाय जमदग्नि-शब्दस्य ऋषिप्रदत्तं ब्राह्मणोक्तमपि निर्वचनमेव निगीर्णवानसौ पाठकानामक्षिषु धूलिक्षेपं विधातुम् । अन्यथा जमदग्नि शब्दस्य साक्षान्निर्वचने विद्यमाने न कश्चन ऐतिहासिकः पुरुषः जमदग्निर्नाम सम्भवति । त्र्यायुषमिति शब्दस्य च करपात्रिकृतः बाल्यं यौवनं वार्धक्यं चेति त्रयाणामायुषां समाहारः त्र्यायुषमित्यर्थो न तर्कसंगतः । आसां तिसृणामवस्थानां सर्वैरेव मनुष्यैः प्राप्ततया परमात्मानं प्रति तदर्थ-प्रार्थनस्य व्यर्थत्वात् ।

तदेवं करपात्रिकृतः मन्त्रार्थः यत्

हे ईश्वर ! जमदग्निसंज्ञकस्य कश्यपसंज्ञकस्य देवविशेषस्य अन्येषां चापि देवानां यत् त्र्यायुषं बाल्ययौवन वार्धक्यरूपंयदायुरस्ति तदस्माकमपिभवतु सुखमयम् इति, स एषोऽर्थः विविधदोषदूषितः, तत्समर्थने च करपात्रि-प्रदत्ताः अन्या युक्तयश्चापि न बुद्धिसंगताः पोषकसन्दर्भाऽसङ्गताश्च । अतः वेदार्थ-पारिजातस्य रूढार्थाधारितः अनित्येतिहास-पोषकः मन्त्रार्थकरण-प्रकारोऽपि न युक्तः ।

भाषा-पक्ष-परीक्षा

भाषापक्षोऽपि वेदार्थ-पारिजातस्य न साधुः, यतो हि प्रायेणाऽसौ दुरूहतामावहति । कश्चित् संस्कृतज्ञः हिन्दीभाषानुवादस्य साहाय्यं विना ग्रन्थस्य वास्तविकार्थं न बोद्धुं क्षमः । नव्यन्यायानुगताऽस्य शब्दा-

१ न त्रयः (जीवेश्वरप्रकृतयः) पदार्थाः यस्य स अत्रिस्तेन ।

वली[1] त्वधिकतरं काठिन्यमुत्पादयति पाठकाय । दीर्घसमासबहुला सुदीर्घानुच्छेद[2] काश्चऽपि काठिन्य-हेतवस्तत्र । न क्वचिदपि भाषायाः सारस्यं माधुर्यं वाऽपि दृश्यते ग्रन्थ-प्रबन्धेषु । अनेकशङ्कापक्षोट्टङ्कणवती महाभाष्यकारपतञ्जलि-शैली समुपलभ्यते नैकत्र तत्र । न लोकोक्तिलेशः न चापि सूक्तिसमावेशस्तत्र दृश्यते । अतः भाषापक्षोऽपि न साधीयान् ।

वेदार्थ-कल्पद्रुमः

परमेतस्य ग्रन्थस्य तु प्रायेण लघुलघुपरिच्छेदयुता लोकोक्तिसंयुक्ता, वर्णविन्यासरम्या, स्वल्पबोधगम्या प्रकरणनुसारं श्लोकसारस्यमयी कुत्रचित् सूक्तिमयी रसानुकूला भावाऽप्रतिकूला अनुप्रासप्रयास-बहुला विगत-विभाषा भाषाऽस्य प्रथमा विशेषता । यथास्थलं विपक्षखण्डनाय विविध छन्दसां बाहुल्यं द्वितीया विशेषता । महर्षिदयानन्दप्रयुक्तशब्देषु करपात्रिसमुत्थापित-व्याकरण-शङ्कानां समुचितसमाधनप्रदानमस्य तृतीया विशेषता । किञ्च सैद्धान्तिक-शङ्कानां समुचित-समाधानेन भावपक्षोप्यस्यग्रन्थस्यासंशयं साधीयान् इति समालोचमानः

सुरेन्द्रकुमारः शास्त्री
दिनांकः कार्तिक-पूर्णिमा सं० २०४१ साहित्याचार्यः

(१) तथाहिः—यद्यपि बलवदनिष्टानुबन्धित्वविशिष्टकृतिसाध्यत्वविशिष्टेष्टसाधनत्वज्ञानत्वज्ञानमन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रवृत्तिं प्रति कारणमिति । (पृ०१२१)

(२) यथा (पृ० ३१,३२) पृष्ठद्वयात्मकः एक एवानुच्छेदः ।

वेदार्थ-पारिजात-पर्यालोचन

खोदा पहाड़ और निकला चूहा, और वो भी मरा हुआ

यह उक्ति वेदार्थ-पारिजात पर घटित होती है। कैसे ? सुनिये, ऐसे। विद्वज्जन महानुभाव, यह आपको विदित होगा कि ये स्वामी करपात्री जी वे ही महानुभाव हैं जिन्होंने भारत की राजधानी दिल्ली में यमुना नदी के तट पर धर्मसंघ के अधिवेशन के अवसर पर एक महान् यज्ञ कराया था उसी समय इन्होंने पौराणिक-सिद्धान्तों पर शास्त्रार्थ करने के लिए संस्कृत में श्लोक-बद्ध घोषणा भी कराई थी।

उसके उत्तर में दिल्ली की शिरोमणि आर्यसमाज 'दीवान हाल' ने उनके घोषणा-पत्र का संस्कृत-श्लोक बद्ध ही उत्तर दिया और पौराणिक पंडित स्वर्गीय श्री माधवाचार्य से संस्कृत में लिपिबद्ध शास्त्रार्थ कराया। इस कार्य में आर्यजगत् के उद्भट अनूचान स्वर्गीय श्री पं० हरिदत्त जी शास्त्री षोडश-तीर्थ एवं शास्त्रार्थ महा-रथी श्री पं० व्यासदेव जी शास्त्री (एल. एल. बी.) अधिवक्ता के नाम प्रमुख हैं। श्री पं. व्यासदेव जी की तर्कों से श्री पं. माधवाचार्य जी हतप्रभ हो गए जिससे इस समस्त कार्य के सूत्रधार श्री करपात्री जी को बड़ी निराशा हुई।

फलतः मानो उसी मौखिकपराजय के आघात से आहत श्री करपात्री जी ने आर्य-समाज के सिद्धान्तों का लिखित-खण्डन करने का संकल्प किया और उसी संकल्प का क्रियात्मक परिणाम है उनका लिखा 'वेदार्थ-पारिजात।' इसमें ऋषि दयानन्द की लिखित 'ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका' का 'दयानन्दीयमतखण्डन' के नाम से खण्डन करने में अपने सम्पूर्ण पाण्डित्य प्रदर्शन करने का प्रयास किया है। जिसकी असारता को विबुधगण 'वेदार्थ-कल्पद्रुम' को पढ़कर

भली भांति समझ जायेंगे।

इस 'वेदार्थ-पारिजात' में महर्षि दयानन्द पर वृथादोषारोपण करना इनका धेय है, वृथा छिद्रान्वेषण करना इनका लक्ष्य है, गप्पाष्टकों से भरा पुराण इनका साक्ष्य है। इनमें न वेदार्थ का वैदुष्य है और न कहीं महर्षि दयानन्ददर्शित उव्बटमहीधरादि के वेद-भाष्यों की त्रुटियों पर प्रदर्शित नैराश्य है।

ये महाशय ऋषि दयानन्द के उद्धृत अंशों को अपूर्ण या परिवर्तित उद्धृत करने में अपना गौरव समझते हैं। उनके वैदुष्योत्कर्ष और महती ख्याति को सहन न करते हुए, ईर्ष्यावश उनके निरर्थक-दोष निकलते हैं। उनको निग्रहस्थान में ले आने में प्रयत्नशील स्वयं निग्रह स्थान में फंस जाते हैं। यह सब 'वेदार्थ-कल्पद्रुम' में यथास्थल स्पष्ट है।

अपशब्दों की वर्षा

'वेदार्थ-पारिजात' की रचना में विविध विषयों के जिन तेरह उद्भट विद्वानों की सहायता मिली है उनमें एक हैं मीमांसानागर विद्यासागर श्री पं. पट्टाभिराम शास्त्री। श्री करपात्री के परमसहायक इन महानुभाव ने अपनी प्रस्तावना में आर्यसमाज को एक भयावने नास्तिकसदृश एक नूतन मत की संज्ञा दी है तथा आर्यसमाजियों को, कहीं मीमांसा युवती के शीलभंग में निर्लज्ज, कहीं जनता और शास्त्र के साथ छलकपट शील, आंखों में धूल झोंकने वाले, कहीं कुम्हड़े के के समान चोर, कहीं आक्रमणकारी धूर्त, तो कहीं वेद माता के केशों को खींचने वाले कुपूत इत्यादि अपशब्दों में तिरस्कृत किया है।

इसी प्रकार ग्रन्थ लेखक ने भी स्वामी दयानन्द को तिरस्कृत करने में कमी नहीं रक्खी है कहीं तो उनको सनातनपद्धति को दूषित करने वाला, कहीं प्रमत्त समान प्रमाण विरुद्ध प्रलाप करने वाला, कहीं धृष्टता करने वाला, कहीं धर्म का नाश करने वाला तो कहीं बालभाषित करने वाला, कहा है। अस्तु एक साधु के द्वारा अन्य साधु के प्रति इस प्रकार अपशब्दों का प्रयोग असाधुत्व को सूचित करता है। अतः वेदार्थ-पारिजात का व्यावहारिक पक्ष सभ्य नहीं।

कुछ समय हुआ जबकि करपात्री जी ने स्वयं यमुना तट पर एक महान् यज्ञ कराया था परन्तु आश्चर्य है कि अपने इस ग्रन्थ में यज्ञ के दयानन्दोक्त वायुजलादि शुद्धि रूप लाभों को ही कपोलकल्पित माना है[1] और लिखा है कि किसी भी आप्तपुरुष ने यह नहीं कहा कि जल आदि की शुद्धि यज्ञ का फल है।[2] किञ्च इस ग्रन्थ में अनिर्णीत-सिद्धान्तत्व और पूर्वापर-विरोध भी है। कुछ आक्षेप अति तुच्छ एवं सार-हीन है। स्वामीजी ने एक स्थान पर लिखा है कि 'व्यास जी और अन्य ऋषियों ने वेदों को नहीं बनाया' इस पर करपात्री जी लिखते हैं कि व्यास जी को अनृषि कहना दयानन्द की धृष्टता है।[3] सो यह बड़े आश्चर्य का विषय है कि ये महाराज गोवलीवर्दन्याय को भी नहीं समझते। जैसे गौ और बैल एक ही जाति के होते हुए भी विशेषता के लिए दोनों का पृथक ग्रहण भी कर लिया जाता है अथवा जैसे ब्राह्मणा आयाता वसिष्ठोऽपि आयातः अर्थात् 'ब्राह्मण आ गए और बसिष्ठ भी आ गए, में वसिष्ठ का पृथक् ग्रहण करने से वसिष्ठ जी का ब्राह्मणत्व नहीं घटता, वरन् पृथक् ग्रहण करने से उनकी विशिष्टता ही प्रतीत होती है। इसी प्रकार 'व्यासेन ऋषिभिश्च' वाक्य में व्यास जी का अनृषित्व कदापि सिद्ध नहीं होता जिसको ऋषि की 'धृष्टता' कह डाला है।

इसी प्रकार एक स्थान पर स्वामी जी ने लिखा है कि 'ऋषियों के ज्ञान के मध्य में वेद प्रेरित हुए, इस पर आक्षेप[4] कर डाला है कि ज्ञान तो अमूर्त और अनन्त है अतः उसके मध्यत्व का निश्चय ही नहीं हो सकता।' सो यह कितनी छोटी सी बात है क्योंकि मध्य का अर्थ केवल केन्द्रीय मध्य ही नहीं होता वरन् सामान्य से कोई भी बीचमात्र मध्य कहला सकता है अथवा मध्य का अर्थ अन्तर्गत भी होता है जैसे समुद्र के मध्य में मत्स्य हैं आकाश के मध्य में वायु है। अतः इस प्रकार के करपात्री जी के आक्षेप निस्सारता एवं बालकपनयुक्त प्रतीत होते हैं इनमें कोई वैदुष्य या बुद्धिमत्ता की गन्ध नहीं है।

(१) (पृ० ५७० पं० २, पृ० ५८१ पं० ५,) (२) पृ० ५७० पं० २७ (३) पृ० ५०४ पं०६ (४) पृ० ४९५ पं०७।

करपात्री जी ने एक स्थान पर[1] 'त्रयो व्याहृतयः' पदों का प्रयोग किया है जो सर्वथा अशुद्ध है क्योंकि त्रयः पुंलिंग और 'व्याहृतयः' स्त्रीलिङ्ग होने से विशेषण विशेष्य में भिन्न लिङ्गत्व हो गया है।

इसी प्रकार (पृ० ५०३ पं० १४ में) 'छन्दोपदम्' शब्द का प्रयोग किया है जो कि सन्धि के नियम के अनुसार अशुद्ध है छन्दस् में पकार अक्षर के परे रहते ओत्व करना महान् आश्चर्य का विषय है।

ग्रन्थकार और टीकाकार एक स्थल पर[2] 'येषु विद्वांसो भवन्ति' ऋषि वाक्य में विषय सप्तमी मानने पर अधिकरण सप्तमी से विरोध मानते हैं। तब क्या भला विषय सप्तमी और अधिकरण सप्तमी क्या भिन्न-भिन्न होती हैं? कदापि नहीं। विषय सप्तमी तो अधिकरण सप्तमी का ही एक भेद होता है दोनों में विरोध की शङ्का उठाना व्याकरणानभिज्ञत्व का सूचक है। अतः यह भी एक आश्चर्य है।

इसी प्रकार ग्रन्थ के आरम्भ में ही श्री गणेशायः नमः तथा सरस्वत्यैः नमः से मंगलाचरण किया गया है। जो शब्दरूपों की दृष्टि से सर्वथा अशुद्ध है क्योंकि चतुर्थी में विसर्गान्त रूप नहीं बनते। यह मुद्रण त्रुटि इसलिए नहीं मानी जा सकती क्योंकि अक्षर नियोजक अपनी ओर से विसर्गों को स्वयं क्यों लगाएगा?[3] यदि कथञ्चित् मुद्रण त्रुटि ही मान ली जाए तो यह त्रुटि ग्रन्थारम्भ में कदापि शोभनीय नहीं क्योंकि ग्रन्थारम्भ में अशुद्धि रूप कार्य व्याकरण महाभाष्य के मतानुसार अमंगल सूचक है।

किञ्च, वे० पा० के पृ० ५४४ पर 'महर्षेरङ्गिरसो ब्रह्मविद्या-प्राप्ति परम्परामुक्त्वा···पप्रच्छ' इत्यादि अनुच्छेद में 'अङ्गिरसः' पद में

(१) (पृ० ४९७ पं० १२) (२) (पृ० ५०६ पं० १४) (३) जैसे—पृ०५०४ पर 'साक्ष्यत्वात्' में ये करपात्री जी 'त्व' प्रत्यय के स्थान पर 'त्वल्' प्रत्यय लिखते हैं यह अक्षर नियोजक की त्रुटि नहीं है।

पंचमी विभक्ति है या षष्ठी ? यह शङ्का होती है। यदि पंचमी है तो अशुद्ध, और षष्ठी है तो भी अशुद्ध, क्यों 'गौणे कर्मणि' दुह्यादेरित्यादि व्याकरण नियम के अनुसार वच् धातु के गौण कर्म अङ्गिरस् में द्वितीया होनी चाहिए।

वास्तव में यहां शौनक ने ब्रह्मविद्या प्राप्ति की परम्परा को अङ्गिरस को नहीं कहा अपितु सत्यवह भारद्वाज ने कहा था जैसा कि उपनिषद् में लिखा है 'प्राह भारद्वाजोऽङ्गिरसे' इत्यादि। अतः महर्षि अङ्गिरा से ब्रह्मविद्या प्राप्ति की परम्परा को बताकर उससे महाशाल शौनक ने पूछा' ऐसा हिन्दी अनुवाद करने वाला भी उपनिषद् ग्रन्थ प्रसङ्ग ज्ञान में भ्रान्त ही है। साथ ही इस स्थल पर 'उक्त्वा' क्रिया का कर्त्ता भारद्वाज और 'पप्रच्छ' क्रिया का कर्त्ता महाशाल शौनक है अतः यहाँ समानकर्तृकत्व न होने से करपात्रीकृत 'उक्त्वा' में 'त्वा' का विधान सर्वथा अशुद्ध है। जो व्यक्ति 'त्वा' प्रत्यय के विधान में स्वयं इस प्रकार की अशुद्धि करे और 'उपदेशं श्रुत्वा···मनुष्याणां ज्ञानं भवति'[1] में ऋषिदयानन्द की 'त्वा' प्रत्यय विधान की अशुद्धि निकालने का दुष्प्रयास करे यह कदापि शोभनीय नहीं।

इस प्रकार करपात्री जी का व्याकरणवैदुष्य चिन्तनीय है।

छन्दस्समीक्षा

करपात्री जी ने मुख्यतया अनुष्टुप्, छन्द का ही प्रयोग किया है जो छन्द अत्यन्त सरल और साधारण है उसकी रचना में भी अनेकों त्रुटियों का होना महान् आश्चर्य का विषय है यथाः—(क) 'प्रादुश्चके भाष्यनाम्ना' में पंचम अक्षर 'पंचमं लघु सर्वत्र' के अनुसार लघु होना चाहिए परन्तु 'भा' यह पंचम अक्षर गुरु है, अतः सर्वथा अशुद्ध है।

(ख) इसी प्रकार 'मार्कण्डेयो ब्रह्मचारी, मुसलगांव गजाननः' यहाँ अनुष्टुप् के द्वितोयार्ध में आठ अक्षर के स्थान पर नौ अक्षर हो गए हैं जो नहीं होने चाहिए।

---

(१) (पृ. ४९१ पं० १४)

(ग) मेरे विचार से इस सम्पूर्ण ग्रन्थ में अनुष्टुप् छन्दों के अतिरिक्त करपात्री जी का रचित केवल एक ही छन्द है और वह है 'शार्दूल-विक्रीडितम्।' सो बड़े ही आश्चर्य का विषय है कि महाराज जी उसमें भी अशुद्धि कर बैठे हैं देखिएः—'येषां पितृपितामहादिपुरुषा आसन् सदा वैदिकाः।' इस प्रथम पंक्ति में तीसरा अक्षर 'पि' गुरु होना चाहिए जबकि यह ह्रस्व है।

अतः छन्दो रचना की दृष्टि से भी करपात्री का वैदुष्य सर्वथा शोचनीय है।

काव्य-दोष-वीक्षा

ग्रन्थकर्त्ता की अपनी श्लोकमयी भूमिका में

क—'अस्माभिर्ग्रथितस्यास्य, देववाणीमयस्य च' इस श्लोक में 'अस्य' सर्वनाम किसका परामर्शक है ? यह पता नही चलता, 'ग्रन्थ' का परामर्शक है' यह कहना ठीक नहीं क्योंकि पूर्वश्लोकों में 'ग्रन्थस्य' पद कहीं नहीं है। अतः यहां अभिमत के उपस्थित न होने से तत्सम्बन्ध के अभाव में 'अभवन्मत सम्बन्ध' रूप काव्य-दोष है।

ख—तथा मुख्य विधेय का विमर्श न होने में विधेयाविमर्श दोष भी है।

ग—'लोकनामुपकाराय, भवेद् हिन्दीमयोऽपि च' इस श्लोक में हिन्दीमयः यह विशेषण है पर किसका है ? यह पता नहीं चलता, क्योंकि पूर्व स्थल में ग्रन्थ आदि कोई निर्देश नहीं है अतः 'हिन्दीमयः भवेत्' इस वाक्य रचना में कर्त्ता का निश्चय नहीं होता। हिन्दीमयः (मयट् प्रत्ययान्त) हिन्दीयुक्त यह विशेषण है विशेष्य नहीं अतः कर्त्ता नहीं हो सकता। पहले श्लोक में 'अस्माभिर्ग्रथितस्यास्य' इत्यादि अंश के साथ भी इसका सम्बन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि यह प्रथमान्त है और वे षष्ठ्यन्त हैं। अतः 'भवेत्' क्रिया का कोई कर्त्ता न होने से यहां न्यूनपदत्व दोष है।

अच्छा तो यहां हिन्दीमयः यह विशेषण 'येषामित्यादि' पूर्वश्लोकोक्त 'श्रम' पद का ही मान लिया जाय, वह भी ठीक नहीं,

क्योंकि बीच में 'परम्पराप्रवृत्तस्य' इत्यादि श्लोक होने से दूरान्वय बनता है। अस्तु तथापि कथंचित् पूर्वोक्त 'श्रम' शब्द का ही परामर्श कर लिया जाय, तो वह भी ठीक नहीं, क्योंकि तब 'अस्माभिर्ग्रथितस्यास्य श्रमस्य देववाणीमस्य हिन्दीमयोऽपि स्यात्, यह अन्वय होगा। तब 'स च श्रमः हिन्दीमयोऽपिस्यात्' अन्वय करने के लिये 'स च श्रमः' यह अध्याहार करना पड़ेगा। यदि यह अध्याहार कर भी लिया जाय तो वह भी ठीक नहीं होगा, क्योंकि पहले 'ग्रथितस्य श्रमस्य' में नेयार्थ दोष आयेगा। कारण यह है कि किसी व्यक्ति के द्वारा श्रम का ग्रथन होना प्रसिद्ध नहीं है। यदि यहां 'हिन्दीमयः अनुवादः' यह कल्पना की जाय तो वह भी ठीक नहीं क्योंकि अनुवाद अध्याहार के लिए कोई आधार (संकेत) नहीं है। अतः इस श्लोक में इधर से भ्रष्ट और उधर से भ्रष्ट वाली उक्ति घटित होती है।

अतः ग्रन्थ का काव्य-वैदुष्य भी दूषित ही है।

वेदार्थ-करण-समीक्षा

वेदार्थ के आधारभूत निरुक्त की टीका में मन्त्रार्थ के विषय में लिखा है कि:—'नह्येतेषु अर्थस्य इयत्तावधारणमस्ति' इत्यादि, अर्थात् मन्त्रों में अर्थों की सीमा का नियन्त्रण नहीं होता। ये महान् अर्थ वाले और दुर्ज्ञेय होते हैं जैसे अश्वारोही की विशिष्टता से अश्व अच्छा या अधिक अच्छा हो जाता है उसी प्रकार ये मन्त्र भी वेदार्थ व्याख्याता की विशिष्टता के कारण श्रेष्ठ या श्रेष्ठतर अर्थों को देते हैं, परन्तु यह अत्यन्त खेद का विषय है कि इस लेखक ने स्वामिदयानन्दकृत निरुक्त व्याकरण ब्राह्मणादि सम्मत मन्त्रार्थों की यौगिक शैली को खण्डित करके अनित्येतिहास प्रतिपादक रूढार्थ शैली को अपनाया है। उदाहरणार्थ देखिये।

त्र्यायुषं, जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषं।
यद्देवेषु त्र्यायुषं, तन्नोऽस्तु त्र्यायुषम्॥

यह यजुर्वेद का मन्त्र है। स्वामी जी ने इसका अर्थ किया है हे ईश्वर! मेरे (जमदग्नेः) चक्षु की तथा (कश्यपस्य) प्राण की

(त्र्यायुषं) तीन सौ वर्ष की आयु हो और (यद्देवेषु त्र्यायुषं) और जो विद्या प्रभाव युक्त देवों में तीन सौ वर्ष की आयु है (तन्नोऽस्तु) वह हमको प्राप्त हो। इस मन्त्र के अर्थ की पुष्टि के लिये 'चक्षुर्वै जमदग्निः यदनेन जगत्पश्यति अथो मनुते तस्माच्चक्षुर्जमदग्निः ऋषिः' 'कश्यपो वै कूर्मः कूर्मो वै प्राणः' यह ब्राह्मण ग्रन्थ का अर्थ निर्वचन भी दिया है। परन्तु अनित्येतिहास का पोषण करने के लिए ग्रन्थकार ने 'जमदग्नि तथा 'कश्यप' का अर्थ व्यक्ति विशेष किया है जो कि रूढ़ अर्थ है जबकि इस जमदग्नि शब्द का निर्वचनपूर्वक ब्राह्मण ग्रन्थ ने यौगिक अर्थ दिया है। सो उस निर्वचन को ही करपात्री जी महाराज, ऋषि के 'भूमिका' भाग में से निगल गये हैं। उसे छुआ तक नहीं है।

इसी प्रकार 'त्र्यायुषं' शब्द का अर्थ 'तीन सौ वर्ष की आयु' व्याकरणादिसम्मत अर्थ है क्योंकि 'शतायुर्वैपुरुषः' जीवेम शरदः शतमित्यादि प्रमाणों से मनुष्य की सामान्य आयु सौ वर्ष होती है। इसलिए त्रयाणामायुषां समाहारः त्र्यायुषम् अर्थात् 'तीन सौ वर्ष' यह व्याकरणदिसम्मत अर्थ है परन्तु इसका खण्डन करके करपात्री जी ने त्र्यायुषं का अर्थ बचपन यौवन और वार्धक्य ये आयु के तीन भाग किया है जो कि असङ्गत है क्योंकि ये तीन आयु नहीं वरन् आयु के तीन भाग हैं। यह युक्ति संगत इसलिए भी नहीं है क्योंकि मनुष्य की ये तीन अवस्थायें प्रायः सभी को प्राप्त होती हैं इनके लिये ईश्वर से प्रार्थना करने की आवश्यकता ही क्या है? अप्राप्त जो तीन सौ वर्ष की आयु है वह हमें प्राप्त हो यह संगत प्रार्थना है।

इसलिए करपात्रीकृत उक्त मन्त्र का यह अर्थ कि 'हे ईश्वर! जमदग्नि और कश्यप ऋषि की तथा अन्य देवताओं की जो सुखमय बाल्य यौवन और वृद्ध तीन (आयु) 'अवस्था हैं वे हुमारी भी हों? बुद्धिसंगत गौरवान्वित तथा प्रमाण-संगत नहीं है। इसके समर्थन में उन्होंने जो युक्तियाँ दी हैं वे भी बुद्धि तथा प्रसङ्ग-संगत नहीं हैं।

अतः वेदार्थ-पारिजात का रूढार्थाधारित अनित्येतिहासपोषक मन्त्रार्थकरण पक्ष भी युक्त नहीं है।

भाषा-पक्ष-परीक्षा

वेदार्थ-पारिजात की भाषा प्रायः दुरूह हो गई है एक संस्कृतज्ञ को हिन्दी अनुवाद के बिना उसके वास्तविक अर्थ को समझने में कठिनाई होती है विशेषकर नव्य-न्यायानुगत[1] पदावली ने इसके काठिन्य को बढ़ा दिया है। दीर्घ समास बहुलता और दीर्घानुच्छेद[2] की शैली भी सरलता में बाधक हैं। इसमें न कहीं सूक्तियां हैं न लोकोक्तियां हैं अतः रोचकता के अभाव में विषय की गम्भीरता के साथ-साथ शुष्कता बढ़ गई है।

वेदार्थ-कल्पद्रुम-वैशिष्टय

प्रायः लघुलघुपरिच्छेदयुक्त, लोकोक्तिसंयुक्त, वर्णविन्यासरम्य, स्वल्पबोधगम्य, यथास्थल प्रसङ्गानुकूल, श्लोक-सारस्यमयी, सारमयी, रसाप्रतिकूला भावानुकूला अनुप्रासप्रयासबहुला विगत विभाषा (विकल्प) भाषा इसकी प्रथम विशेषता है।

महर्षिदयानन्द के शब्दों पर करपात्रि-समुत्थापित व्याकरण-शङ्काओं का समुचित-समाधान तथा करपात्री जी की व्याकरण-सम्बन्धी त्रुटियों का उद्घाटन इसकी दूसरी विशेषता है। ग्रन्थ में विपक्षमुखमर्दन के लिए विविध छन्दों का प्रयोगबाहुल्य तीसरी विशेषता है।

प्रतिपक्षी की सैद्धान्तिक शङ्काओं के समुचित समाधान द्वारा आक्षेपों का निराकरण कर स्वपक्ष का समर्थन करना भावपक्ष गत चतुर्थ विशेषता है।

समालोचक

कार्तिक पूर्णिमा, २०४१ — **सुरेन्द्र कुमार शास्त्री**
साहित्याचार्य

---

१ यथा—यद्यपि बलवदनिष्टकृतिसाध्यत्व विशिष्टेष्ट साधन-त्वरूप इत्यादि। (पृ० १२१)

२ यथा—पृ० ३१ तथा ३२ पर एक ही अनुच्छेद है।

शब्द-संकेत-सूची

अनु०—अनुच्छेदः
उ० प०—उत्तर-पक्षः
ऋषिः, महर्षिः—महर्षिदयानन्दः
निरु०—निरुक्तम्
पृ०, पं०—पृष्ठं, पङ्क्तिः
पू० प०—पूर्वपक्षः
ब्रा०—ब्राह्मणम्
बृ०—बृहदारण्यकोपनिषद्
भा० भू०—ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका
भूमिका— ,, ,, ,,
म०—मनुः
म० भा०—महाभारतम्
माण्डू०—माण्डूक्योपनिषद्
मी०—मीमांसा
मुं०—मुण्डकोपनिषद्
वे०—वेदान्तः
वे० पा०—वेदार्थ-पारिजातः
वे० क०—वेदार्थ-कल्पद्रुमः
वैशे०—वैशेषिकम्
शां०-प०—शान्ति-पर्व
शां भा०—शाङ्करभाष्यम्
शत०—शतपथम्
समा०—समाधानम्
समु०—समुल्लासः

ओ३म्

वेदार्थ-कल्पद्रुम-विषय-सूची

पृष्ठ

अथ वेदोत्पत्ति-विचारः

पृ०

९८ धर्मार्थ-काम-मोक्ष-सिद्धया परमानन्द प्राप्तिकथनं किं पुरुषार्थं तत्त्वानभिज्ञानमूलकम् ?

१०० त्रिवर्ग-विशिष्टस्यापि मोक्षस्य परमानन्दजनकत्वे किं संन्यासस्य अवैधत्वम् ?

१०१ किं परमानन्दो मोक्षलक्षणात् पुरुषार्थात् भिन्नोऽभिन्नोवा ?

१०३ किं वेदाः नियतानुपूर्वी-विशिष्टाः अपौरुषेयशब्दराशि-रूपा एव न ज्ञान-रूपाः ?

१०५ किमग्निवायुसूर्याः जडा उत मनुष्यरूपाः ? भूरादिलोकानाम-धिष्ठातृदेवा वा ?

१०८ परमेश्वरेण अग्निवा य्वादिभ्यः वेद-ज्ञानं दत्तं पुनस्तेनैव वेदाः प्रणीता इति कथं सङ्गतम् ?

१११ यदि वेदाः ज्ञानरूपास्तर्हि ज्ञानविषयकं ज्ञानमनुव्यवसायात्मक-मन्यद् वा ?

११३ अनुव्यवसायात्मक-ज्ञानाद्भिन्न ज्ञानस्य नाऽप्रसिद्धिः यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वमित्यादौ किं वेदेभ्यः पूर्वं ब्रह्मोत्पत्तिः ?

११७ 'प्रेरयित्वा' इत्यत्र कुतो न क्त्वोल्यप् ?

११९ किं चतुर्मुखेन ब्रह्मणा वेदा निरमायिषत ?

१२० प्रत्यक्षाद्यधिगतं सत्यमपि किमैतिह्यम् ?

१२१ ऐतिह्य-प्रमाणस्य प्रमाणत्वे सत्यप्रमाणमिति विशेषणस्य काऽव-श्यकता ?

१२२ बाधितार्थ-विषय-ज्ञाना साधारणकारणं करणं प्रमाणमिति प्रमा-स्वरूपं किं दोषपूर्णम् ?

१२३ किं महर्षिव्यासः वेदानां निर्माता ?

१२६ किं व्यासः पुराणानां रचयिता ?

१२७ तदनुयायिभिरार्यसामाजिकैः दयानन्दं प्रति किं महर्षिरिति विशेषण-योजनमनुपयुक्तम् ?

१२९ परमेश्वराद् वेद प्रादुर्भाव इत्यत्र कथने का नाम वाचोयुक्तिः ?

१३१ ईश्वरस्य सम्प्रदाय प्रवर्तकत्ववत् किं ब्रह्मादीनामपि तत्सम्भवति प्रवर्त्तकत्वम् ?

१३३ व्यासस्य सम्बन्धे किं दयानन्दस्य वस्तुतः अनृषित्वोक्तिः ?

पृ०

१३५ नवीनपुराणग्रन्थानामित्यत्र किं कर्मधारयः मध्यपद-लोपिसमासो वा न सम्भवति ?

१३७ यो मन्त्रसूक्तानामृषिस्तेनैव तद्रचितमिति वाक्ये तदिति प्रयुक्तं युक्तं किम् ?

१३९ 'मनुसाक्ष्यत्वात्' इत्यत्र किं 'त्व' प्रत्ययप्रयोगानर्थक्यम् ?

१४१ अग्न्यादिभिन्नेभ्यः सूक्तदृग्भ्यः ऋषिभ्यः कथं न वेदोत्पत्ति-संभवः ?

१४२ किं देवा अपि न मनुष्याः ?

१४५ किमृषि-दयानन्द-कृतं वेद-शब्द-निर्वचनमशुद्धं निस्सारं च ?

१४८ वेदाः ज्ञानविज्ञानानामाकराः ।

१४८ किमधिकरण-विषयसप्तम्योः विरोध-सम्भवः ?

१४९ नैयायिक-वैयाकरणयोः कथा-संवादः ।

१५१ वेदानां ज्ञानरूपतया प्रमारूपत्वे सत्यविद्याजनकत्वं कथम् ?

१५४ वेदाः ज्ञानं तच्च प्रमारूपं कथं पुनर्वेदानां प्रमाणत्वम् ?

१५५ अत्यन्त सालक्षण्ये किं साध्यसाधनभावानुपपत्तिर्युक्ता ?

१५६ वाक्य-ज्ञानेन वाक्यार्थ-ज्ञानवत् परमेश्वर-निष्ठ वेदात्मत्मक-ज्ञानेन सत्यविद्यात्मकं ज्ञानं भविष्यतीति युक्तम् ?

१५८ ईश्वरस्य ज्ञानरूपाः वेदास्ते निर्विषयाः सविषयाः वा ?

१६० वेदानां निर्दुष्ट-लक्षणम् ।

१६१ वेदानां प्रवाहनित्यत्वं स्वरूप-नित्यत्वं वा ?

१६३ प्रत्येकानुपूर्वी किं पूर्वानुपूर्वीमपेक्षते ?

१६४ अतीतानागतेषु अपूर्वायाः आनुपूर्व्याः उत्पत्तेरभावात् अनादि निधनत्वेन वेद-नित्यत्वं किमुचितम् ?

१६५ ईश्वरस्य संकल्पेन ब्रह्मादिषु वेदानुपूर्व्याः प्रादुर्भावनं, सुप्तप्रतिबुद्ध न्यायेन तेषु अनुभावनम् ईश्वरद्वारा वेदप्रेषणं चेत्येषु किमुचितम् ?

१६८ किं वेदश्रुत्यादिशब्दाः योगरूढा एव ?

१७२ कर्त्तुर्यथार्थ-ज्ञानाऽभावः सम्प्रदायस्य नित्यतायां कारणं किम् ?

१७४ यदि वेदाः परमेश्वरेण रचितास्तर्हि अग्न्यादीनां निमित्तत्वं कथम् ?

१७६ वेदेषु शब्दार्थ-सम्बन्धाः परमेश्वरादेव समुत्पन्ना इति कथनं तुच्छं किम् ?

पृ०

१८० 'अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः' इति मीमांसा-सूत्रस्य को वास्तविकार्थः ?

१८२ वेदानां नित्यत्वात् तदुत्पत्ति-कालस्यैव अभावः कुतो न ?

१८३ 'भाष्य भूमिका'-प्रदर्शिता वर्त्तमान-सृष्टि-काल-गणना शुद्धा ।

१८४ करपात्रिकृता सृष्टि-काल-गणना अशुद्धा ।

१८७ मानवातिरिक्त-देवता ऽनङ्गीकारे, देवानां युग-गणना कथं सङ्गता ?

१८९ किं सृष्ट्यादौ वेदोत्पत्तिरपि वेदेन साधयितुं शक्या ?

अथ-वेद-नित्यत्व-विचारः

१९३ नित्येश्वराद् वेदोत्पत्तेः नित्यत्वे स्वीकृते कथं न ईश्वरोत्पन्नस्य जगतोऽपि नित्यत्वम् ?

१९४ किमीश्वरस्य नित्यत्वेन वेदस्य नित्यत्वेऽतिप्रसङ्गः ?

१९७ परमात्मज्ञानस्थे नित्ये शब्दार्थसम्बन्धे वेदोत्पत्तिप्रयासः व्यर्थोऽतः किं शब्दनित्यत्वसाधनं प्रमत्तप्रलपितम् ?

१९८ शब्दमयत्वं हेतुः किं शब्दानित्यत्व-साधकम् ?

२०१ यदृच्छाशब्दानामनित्यत्वे तद्भिन्नानां रामायणादिशब्दानां कुतो न नित्यत्वम् ?

२०२ परमात्मज्ञानस्थाः शब्दार्थ-सम्बन्धा इति न संगतं किम् ? शब्दानामाकाशायश्रयत्वात् ।

२०५ शब्दस्य ज्ञानाश्रयतया परमेश्वर-ज्ञानस्य सर्वविषयकत्वादनित्य-पदार्थानामपि किं नित्यताऽपत्तिः ?

२०६ परमेश्वरस्य ज्ञान-क्रिये' नित्ये स्वभावसिद्धे अनादी स्तः' इत्यत्र (ऋषि वाक्ये) किं स्वाभावसिद्धे अनादीति पदद्वयं व्यर्थम् ?

२०८ ईश्वरस्य विद्यामयत्वहेतुना किं वेदानां नित्यत्व-साधनं युक्तम् ?

२०९ यदि प्रलये वेदानां सूक्ष्मरूपेण विद्यमानत्वं तर्हि सत्कार्यवादरीत्या जगतोऽपि तथानित्यत्वात् किं वैशिष्ट्यं वेदनित्यत्वे ?

२१० 'असमत्क्रियापक्षे' इत्यत्र क्रियापदेन किमुत्क्षेपेणादिकं विवक्ष्यते प्रयत्नापरपर्याया कृतिर्वा ?

२११ परमेश्वरस्य विद्यामयत्वेन वेदानां नित्यत्वे किं स्वरूपाऽसिद्धदोषः ?

पृ०

२१२ किं वादिप्रतिवाद्युभय-सम्मतस्यैव हेतोः साध्य-साधकत्वम् ?

२१२ वेदानामीश्वरविद्यामयत्वे विद्या शब्दरूपा ज्ञान रूपा वा ? मयट्-प्रत्ययश्च स्वार्थको विकारार्थको वा ?

२१५ प्राचुर्यार्थे मयटि किमीश्वरस्वरूप-ज्ञानेन अनन्तत्वाऽऽपत्तिः ?

२१५ ईश्वरज्ञानस्य वेदैः सह कीदृशः सम्बन्धः ?

२१७ ईश्वर-विद्या-वेदयोश्चाऽभेदत्वे कथं साध्यसाधन-भावः ?

२१९ ईश्वर-ज्ञाने मध्यत्वस्यानिश्चयात् चन्द्रादि-रचनं तस्य ज्ञानमध्ये इति कथनमसारं किम् ?

२१९ किं 'क्रियाश्रयस्तु कर्मैव न कर्त्ता ? किं च क्रियाश्रयो न द्रव्यम् ?

२२२ 'ईश्वर-ज्ञानस्य वृद्धि-क्षय-विपर्ययाऽभावात्' इति यदुक्तं किं तदयुक्तम् ?

२२३ वेदानां···साक्ष्यर्थे प्रमाणानि' इति वाक्ये किं साक्ष्यर्थमितिप्रयोगः साधुः ?

२२४ नित्या शब्दाः तेषु कूटस्थैः·········भवितव्यमिति समुद्धरणं किं पूर्वपक्षपरम् ?

२२७ व्याकरणे ये आदेशा आगमा वा ते शब्द-नित्यत्वे कथं संगच्छेरन् ?

२२८ 'भ्रममूलैव' इत्यत्र कतरः समासो युक्तः ?

२२९ 'भ्रमस्य मूलमिति किं न विग्रह-सम्भवः ?

२३१ किं 'भूमिकायाः' पूर्वसंस्करणेषु-'शब्दस्यैकदेशाय···'एकदेशविकारिणि' इति पाठः ?

२३३ निराकारेण ईश्वरेण कथं शब्दोच्चारणस्य सम्भवः ?

२३४ (मी. १।१।१८) सूत्रे विनाशरहितत्वात् शब्दो नित्यः इति वक्तुं युक्तम् किम् ?

२३५ "दर्शनस्योच्चारणपरस्यार्थस्य ज्ञापनार्थत्वात्" किमत्र षष्ठ्याः अनुपपत्तिः ?

२३६ किं शब्दस्य नित्यत्वं ज्ञाप्य-ज्ञापकत्वञ्च नोभय विद्यमानतायां प्रयोजकम् ?

पृ०

२३७ किं शब्दनित्यत्व-सिद्धौ कणादसूत्रोद्धरणं नोपहासास्पदं ? कणादेन शब्दत्वानित्यत्वाऽभ्युपगमात् ।

२४३ अपसिद्धान्तलक्षणस्यात्राघटितत्वात् भवानेव स्वयमत्र निरनुयोज्यानुयोगनाम-निग्रहस्थाने निगडितः ।

२४४ मन्त्रायुर्वेद सूत्र-प्रसङ्गे तेषां वेदानां नित्यानामीश्वरोक्तानां··· स्वीकार्यमित्यत्र वाक्ये नित्यानामिति विशेषणं किमसङ्गतम् ? ईश्वरोक्तेतिविशेषणात् ।

२४५ 'तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यादिति स्थले ऋषिकृतः 'उक्तम्' इति पाठो युक्तः किम् ?

२४५ किम् आप्तैः वेद-प्रामाण्य-स्वीकरणात् वेद-प्रामाण्यमिति कथनं संगतम् ?

२४८ मन्त्रायुर्वेद० सूत्र-प्रसङ्गे मन्त्राणां विचाराणामित्यर्थ-करणं सत्यत्व हेतुश्च (सत्यत्वे सिद्धे प्रामाण्यं प्रामाण्ये च सत्यत्वं सिद्धिमिति) संगतं किम ?

२५० किं वेद-प्रामाण्यार्थं 'मन्त्रायुर्वेद० इति दत्तं प्रमाणं निरर्थकम् ?

२५२ करपात्रस्य वदतो व्याघातः मानसो व्यामोहश्च ।

२५५ 'वेदानां नित्यत्व-साधनप्रसङ्गे प्रामाण्यसाधनमप्रकृत-प्रक्रिया' किम् ?

२५७ वात्स्यायनमते 'तत्प्रामाण्यमाप्त प्रामाण्या-दिति किमयं पूर्वपक्षः ?

२५९ 'स पूर्वेषामपि गुरुः···तदुक्तत्वाद् वेदानामपि सत्यार्थत्वनित्यत्वे वेद्ये' इति 'ऋषि' प्रोक्त न युक्तं किम् ?

२६१ 'निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यमिति नित्यशब्देऽत्राऽपठिते कथमनेन नित्यत्वं साध्यम् ?

२६२ 'वेदानां स्वतः प्रामाण्य-नित्यत्वात्मकः' पक्षः किं न निकषकषण-सिद्धः ?

२६२ 'शास्त्रयोनित्वादिति' सूत्रे शङ्कराचार्योक्तं 'सर्वज्ञेश्वरस्य शास्त्रमपि नित्यं सर्वार्थज्ञानयुक्तमिति किं न सङ्गतम् ?

पृ०

२६४ वेदकर्त्ता ईश्वरः ईश्वरस्य च सत्तायां वेद-प्रमाणमित्यतोऽन्योन्याश्रयदोषः किम ?

२६५ वेदमीश्वरज्ञानत्वेन करपात्र-महोदयो न समर्थयते इति तु त्रपाकरम् ।

२६६ उत्पत्तिमतः कस्यापि नित्यत्वानुपपत्तिरत एव वेदानामपि नेति चेन्न ।

२६६ किं 'शास्त्रयोनित्वा' दित्यनेन सूत्रेण वेद-नित्यत्वं न गम्यते ?

२६८ शङ्कराचार्येण वेदानां नित्यत्वमभिगम्यैव अस्य सूत्रस्य अर्थः कृत इत्यशुद्धं किम् ?

२६९ वेदानां स्वतः प्रामाण्ये सूर्यवदिति उपमानं किं बालभाषितम् ?

२७० किं यथा चक्षुषः प्रकाशाय सृष्टेरारम्भादेव सूर्यस्य प्रकाशस्याऽऽवश्यकता, तथैव किं मनसोऽपि प्रकाशाय वेद-सूर्यस्यावश्यकता ?

२७१ क—वेद-प्रामाण्येऽध्येत्रध्यापयित्रपेक्षा-कथनमनभिज्ञतैव ।

ख—यदि वेदानां स्वतः प्रामाण्यं तदा किमर्थं नित्यत्व-साधन-प्रयासः ?

२७३ यदीश्वरः स्वयं प्रकाशितस्य वेदस्य सिद्धिकरं प्रमाणं ब्रूते तदा किं वदतो-व्याघात-दोषस्तत्र ?

२७५ किं 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' इति रीत्याऽवेद्यत्वे सत्यपरोक्षत्वात् प्रत्यगात्मरूपेण ब्रह्मणः स्वप्रकाशत्वम् ?

२७७ स पर्यगादिति मन्त्रे अकायमित्यनेन-स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीर-त्रय-रहितत्व-सिद्धौ किमव्रणमस्नाविरमिति पदयोः व्यर्थता ?

२८४ परमात्मनः स्थूल-सूक्ष्म-कारण-देह-शून्यत्वेऽपि भक्तानुग्रहार्थम-प्राकृतदिव्यसच्चिदानन्दलक्षणं स्थूल-सूक्ष्म-शरीरवत्त्वमस्त्येवेति परस्परविरोधिवचनं करपात्रिणः ।

२८५ रामादीनां दिव्यदेहे बाणादिकृतव्रणवत्त्व-प्रतीतिः मायाऽऽरोपितैव न तु वास्तविकीति न वाच्यम् ।

२८६ 'अनुदरी कन्या' इतिवन्नञोऽल्पार्थकत्वादल्पकायमकायमिति न सङ्गतम् ।

पृ०

२८८ क—भक्तानुग्रहार्थमप्राकृतशरीरमित्यनेन ब्रह्मणः साकारतापि चेत्को दोषः ?

ख—किमीश्वरः निराकारः सन्नपि स्वभक्तदर्शन-दानाय विग्रहवान् भवति ?

२९० 'नमो हिरण्यबाहवे' 'नीलग्रीवाः शितिकण्ठाः' इत्यादि मन्त्रपाठानामीश्वरस्य निराकारत्वे सति समाधानम् ।

२९१ किं 'स पर्यगादिति' मन्त्रे 'समाभ्यः' इत्यस्य प्रजाभ्यः इत्यर्थः काल्पनिक एव ?

२९२ नासत आत्मलाभो न सत आत्महानमिति न्यायेन वेद-नित्यत्वप्रतिपादने सत्कार्यवादेन किं घटादेरपि नित्यत्वापत्तिः ?

२९४ सदसत्कार्यवादिनोरन्तरम् ।

२९६ 'यन्नित्यं वस्तु तस्य कर्माण्यपि नित्यानि' इति कथनं प्रमाणविरुद्धं किम् ?

२९७ क—भूमिकायाः 'अवतिष्ठतीतिलेखोऽपपाठः, तत्र' एव तिष्ठतीति शुद्ध पठनात् ।

ख—संयोगवियोगयोरनन्तर्गतत्वात् अस्मदादीनां प्रकृतिपरमाण्वादीनां संयोगवियोगकरणेऽसामर्थ्यं, तथा किमीश्वरेऽपि ?

२९८ ईश्वरस्य परम-सूक्ष्मत्वेन सह कर्त्तृत्वमपि प्रयोजकम् गदितम् ।

२९९ उपसंहार-श्लोकाः ।

वेद-विषय-विचारः

३०० 'वेद-विषय-विचार-विषय' इत्यत्र किं द्वितीय-विषय-शब्दो व्यर्थः ?

३०२ चत्वारो वेद-विषया विज्ञानकर्मोपासना ज्ञान-काण्डभेदादित्यत्र काण्डपदं व्यर्थं किं ? किं द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणकाण्डशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बध्यमानत्वम् सार्थकमावश्यकञ्च ?

३०३ विज्ञानपदार्थः कः ? ज्ञानपदार्थश्च कः ?

३०७ ज्ञान-विज्ञानपदार्थ-ज्ञाने करपात्रस्य पूर्वापर-विरोधः ।

३०८ किं दयानन्देन विज्ञानस्य साक्षाद्बोधान्वयत्वं न प्रतिपादनीयमासीत् ?

३०९ किं हेतुत्वं निरर्थकं साध्याऽसाधकत्वात् ?

३१० 'न च साक्षाद् बोधो ब्रह्मादितृणान्तान् सर्वान् पदार्थान् विषयी करोति' इति त्वज्ञानं वचः ।

३११ क—दयानन्द-प्रतिपादिते विज्ञान-शब्दार्थे न प्रमाणम् इति तु न युक्तम् ।

ख—मर्यादायां पञ्चम्याश्रयणेन परमेश्वरातिरिक्त-तृणपर्यन्त-पदार्थ-ज्ञानस्यैव विज्ञानत्वमिति तु व्याकरणाऽनभिज्ञत्वं करपात्रिणः ।

३१२ 'ऋग्वेदे परमेश्वरमारभ्य तृण-पर्यन्त-सर्व-पदार्थानां वर्णनं दृश्यते' इति युक्तं किम् ?

३१४ 'सर्वे वेदा यत्पदमित्यादिवाक्यानि वेदान्तदृष्ट्या घटन्ते न दयानन्द-दृष्ट्येति युक्तं किम् ?

३१७ क—नवीन वेदान्तदृष्टिस्तु न वैदिकी ।

ख—मोक्षेश्वरयोरभेदोऽयमुक्तः, तन्न संगच्छते किम् ?

३१८ नहि ब्रह्मैव ब्रह्मज्ञानफलमिति युक्तं किम् ?

३१९ क—'ज्ञानस्य' वस्तु- लक्षणम् ।

ख—मोक्षादिवृत्तिस्वीकारात् मोक्षोऽप्यनित्यः किम् ?

३२२ मुक्तेः पुनरावृत्तिः, तत्कथम् ?

३२३ कि यस्यारम्भः तस्यान्तोऽपि ?

३२४ ब्रह्मणः नित्यत्वे मोक्षस्यापि कथंन नित्यत्वम् ?

३२५ स्वर्गादिवत् स्वभिन्नस्यैव सतो ब्रह्मणो भोग्यत्वेन प्राप्तिरात्मत्वेन वा ?

३२७ 'ब्रह्म, यदिच्छन्तः विद्वांसस्तस्मिन्नध्यासमानाः वदन्त्युपदिशन्ति' इति निरर्थकं किम् ? व्यापके ब्रह्मणि सर्वेषामेवाध्यासनादुपवेशनाच्च ।

३२८ 'तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदः' 'तत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमित्येते' समुद्धरणे विरुद्धार्थके किम् ?

३२९ किं वेदेषु न पराविद्या ?

३३२ शास्त्रं पठित्वा···मनुष्याणां ज्ञानं भवतीत्यत्र समानकर्त्तृकत्वाऽभावात् 'त्वा' विधानं किमपाणिनीयम् ?

पृ०

३३३ पृथिवीतृणमारभ्येत्यत्र किं मूलश्रुति-विरोधः ?

३३६ इन्द्रियजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षमिति प्रत्यक्षलक्षणं किं नेश्वरे घटते ?

३३७ ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षमिति लक्षणेन अनुमितौ व्याप्ति-ज्ञानस्य, शब्दे पदज्ञानस्य, स्मृतावनुभवस्य करणत्वात् किं तत्र नाऽव्याप्तिः ?

६४३ (पृ०६) ईश्वर अशरीरी है उसके इन्द्रियां नहीं' परं (पृ० ५३५) इत्यत्र अप्राकृत दिव्य सच्चिदानन्दलक्षणं स्थूल सूक्ष्म शरीरवत्त्वमपीति पूर्वापर-विरोधः।

३४४ 'उनके इन्द्रिय नहीं हैं' एतद्वचसा तु बुद्धेरसंतुलनमेव प्रतीयते।

३४६ यद्यपि परा विद्या अपरा विद्यायाः उत्कृष्टैव, तथापि तव किं स्वोक्तिविरोधोऽपरिहार्यः ?

३४७ यदि सर्व-वेद-तात्पर्यमीश्वरविषयकं तदा 'चत्वारो वेद विषयाः' इति प्रतिपादन-विरोधः किम् ?

३५१ 'उपनिषद्रूप-वेदाक्षर-विषयं हि विज्ञानमिह प्राधान्येन पराविद्येति' तत्किं कपोलकल्पितम् ?

३५२ 'यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं मित्यत्र ब्रह्मचर्यपदमुपलक्षणं गृहस्थादीनाम्।

३५३ किं-नहि शंसनं विज्ञानमर्थः ? यतो हि 'एनं परमात्मानम् ऋग्भिः शंसन्ति वर्णयन्ति इत्यर्थः।

३५४ 'तद्विष्णोः' इतिमन्त्रस्यार्थः ऋषिकृतः न संगतः किम् ?

३५७ सर्वव्यापकस्य नित्यप्राप्तत्वे प्राप्तव्याऽसम्भव इति तु अज्ञानोक्तमेव।

३५८ साक्षात्कर्त्तुर्भिन्नत्वेन पुरुषार्थत्वाऽसम्भव इति कथनं तु दर्शन-शास्त्राऽनवगमनमेव।

३५९ जीव-ब्रह्मणोः भेदस्वीकारे 'तत्त्वमसि' अहं 'ब्रह्माऽस्मि' इत्यादेरभेदप्रतिपादकश्रुतेः संङ्गतिः।

३६१ 'त्वद्रीत्या वस्तुपरिच्छेदरहितं ब्रह्म नैव सम्भवति, तस्यान्योन्याऽभावप्रतियोगित्वात्' इत्यस्यस्य समाधानम्।

३६२ बौद्धवेदान्तिनोः क्व विषये समानकोटित्वम् ?

३६५ वेदान्तिनामभाव-प्रतियोगिब्रह्मणः कल्पना तु अविवेकानुगता।

पृ०

३६६ देशाऽपरिच्छिन्नत्वात्तद्ब्रह्म सर्वे रुपलब्धव्यमिति नोपपन्नमि त्यस्य समाधानम्।

३६९ नास्ति कश्चिदीश्वरः जगदुत्पत्तेः स्वाभाविकत्वादिति न संगतम्।

३७३ किं नाप्यस्ति दृश्यमान-जगद्-विलक्षणं ब्रह्म ?

३७५ 'ब्रह्मस्वरूपस्य विभुत्वादिति' हेतुः साध्यस्य सिद्धौ द्वितीयोहेतुरस्ति न वा ?

३७६ 'दिवीव चक्षुराततमिति' 'इव' शब्देन सादृश्यम् 'उपलब्धिः' व्याप्तिर्वा ऽभीष्टा ?

३७८ यावन्मूर्त्तद्रव्यसंयोगित्वं व्यापकत्वमिति लक्षणं चिन्त्यम्।

३७९ दिवि मार्त्तण्डप्रकाशे दृष्टेर्व्याप्तिर्यथा तथैव ब्रह्मपदं वर्त्तते इत्यर्थस्तु न संगतः।

३८० 'तत्तु समन्वयात्' इति सूत्रस्य दयानन्दोक्तोऽर्थः किमशुद्धः ?

३८१ 'अयमेव' (ब्रह्मरूपः) परमार्थो वेदितव्य इति संगतार्थः किम् ?

३८२ 'यस्मान्नजातः' इतिमन्त्रे ण्यन्त रमधातोः संरमयमाणइत्यर्थः।

३८३ प्रजाशब्दस्य सृष्ट्यर्थे इत्यत्र न प्रमाणं किम् ?

३८४ ज्योतिषामपि सृष्ट्यन्तर्गतत्वात् पुनर्ज्योतिषां रचनावचनं न युक्तम् किम् ?

३८५ सर्वेषां वेदानां ब्रह्मबोधने मुख्य-तात्पर्य-कथनं न संगतं किम् ?

३८६ ओमितिपदेन 'कार' प्रत्यय-सम्भवः ?

३८८ प्रधानाऽप्रधानयोरित्यादिवचनं' महाभाष्यगतम्।

३८९ 'मुख्येऽर्थे मुख्यतात्पर्य' मित्यत्र 'मुख्य' द्वयप्रयोगप्रयोजनम्।

३९० 'तदुपदेश-पुरस्सरेणैव' इति वाक्ये इदं तृतीतान्तं कस्य विशेषणम् ?

३९१ 'नैतेन (कर्मकाण्डेन) विना विद्याभ्यास-ज्ञाने पूर्णे भवतः' इति वाक्ये विद्याशब्दस्य ज्ञानार्थे कृते 'ज्ञान' शब्दस्य व्यर्थतासमाधानम्।

३९२ कर्मकाण्डेन ययोः पूर्तिः तयोः किं प्रयोजनम् ?

३९३ ऋषिवाक्ये 'तु च' शब्दयोः प्रयोगनिरर्थकता-खण्डनम्।

पृ०

४५७ 'अष्टविधं दर्शनम्' इत्यत्र प्रमाणचतुष्टय-प्रतिपादक-गोतमसूत्रो पन्यासस्तु धाष्ट्र्यम्' इत्यस्य खण्डनम् ।

४५६ सत्तान शब्दे नपुंसकलिङ्गप्रयोगोऽशुद्ध इत्यस्य समाधानम् ।

४६३ 'नाशो बाह्येन्द्रियादर्शनम्' एवं सति तु बाह्येन्द्रियाऽविषयाणामाकाशादीनां पार्थिव-परमाणूनां च दयानन्दरीत्या नाशापत्तिप्रसङ्गः' इत्यस्योत्तरम् ।

४६४ पृथग्भूताः परमाणव एव मिलिताः सन्तः स्थूलभावमापद्यन्ते इत्यङ्गीकारे किं नास्तिक-मत-प्रवेशापत्तिः ?

४६८ बौद्धानां 'स्वलक्षणेषु' न्यायवैशेषिकयोः 'परमाणुषु' च महदन्तरम् ।

४६९ सुगन्धिद्रव्यस्यैव दुर्गन्धिद्रव्यस्यात्यन्तनाशाऽसम्भवात् तन्निवारणस्यासिद्धत्वात्, यज्ञः दुर्गन्धिनिवारक इतिकथनं निर्मूल मित्यस्य समाधानम् ।

४७० फिनायलादिक्रमेण कीटनाशे सम्भवेऽपि यज्ञस्योपयोगिता-प्रयोजनम् ।

४७१ 'बुद्धि-सिद्धन्तु तदसत्' इत्यस्य व्याख्यानम् ।

४७२ 'सुगन्ध-युक्तो वायुर्दूरस्थमनुष्यस्य घ्राणेन्द्रियेण संयुक्तो भवति' इति वाक्यावगमने भ्रान्ति-निवारणम् ।

४७३ (क) मन्त्रोच्चारणमन्तराऽपि वायुशुद्धि-सम्भवात् मन्त्रोच्चारण-वैयर्थ्य-शङ्कासमाधानम् ।

(ख) प्रणीतादि-पात्रस्थितिनिर्धारणम् अदृष्टफलजनकमित्यस्य खण्डनम् ।

४७५ यज्ञे वेद्यादिनिर्माणेन ज्यामितिरेखागणितादिशिल्पकला-सूचन-समर्थनम ।

४७६ यज्ञे पशुहिंसाखण्डनम्, दृष्टादृष्टोभयफलसमर्थनञ्च ।

४७७ 'अग्निहोत्रादिकं कर्म शुभावहमिति न वेदितुं शक्यं प्रमाणाऽभावात्' इति करपात्रवचनखण्डनम् ।

४७९ दयानन्दमार्यसामाजिकान् वाऽभिलक्ष्य 'लोकायतिकमूर्खाणां नैवान्यत् कर्म विद्यते' इत्यस्य तथा-दृष्टान्तेन खण्डनम् ।

पृ०

४८० 'अग्निर्देवता०' (य० १४।२०) इत्यादिमन्त्रे प्रसिद्धाग्न्यादीन् शब्द-शक्तिसमुपास्थितानुपेक्ष्य लक्षणया तदबोधकमन्त्रपर्यन्तानुधावनं निर्मूलमित्यस्य समाधानम् ।

४८१ 'कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रोवेदे ।' इत्यत्र सम्पत्तिशब्दस्यार्थः सम्पन्नता, सयोगः, मोक्षोवेत्यस्य समर्थनम् ।

४८४ देवतापदैस्तत्तन्मन्त्रबोधनं व्यर्थमित्यस्य आलोचनम् ।

४८५ अग्निमीडे० इत्यादिमन्त्रे अग्निपदेन भौतिकाग्नेरेव ग्रहण खण्डनम्

४८७ 'कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रोवेदे' इत्यस्य 'कर्मणां सम्पत्तिर्मोक्षो भवति, येन परमेश्वर-प्राप्तिश्च भवति' इत्यर्थकरण-समाधानम् ।

४९० अथातो दैवतं तद्यानि० इत्यत्र ऋषेः 'दैवतं किमुच्यते' इति वाक्ययोजनस्य समाधानम् ।

४९१ 'देवता-परीक्षणे स्वामिना ऋषिरित्यस्यार्थः 'ईश्वरः इत्यस्य' समर्थनम् ।

४९३ 'मन्त्रस्यैव देवतात्वे कथं नाम मन्त्रे देवताज्ञानं स्यात्' इत्यस्योत्तरम् ।

४९४ मन्त्रभिन्नदेवतास्वीकरणमृषेः यास्कस्यैव समर्थनम् ।

४९५ (क) 'यद्दैवतः स यज्ञो यज्ञाङ्गं वा देवताख्यमित्यर्थकरणमृषेः नाशुद्धम् ।

(ख) 'ये खलु यज्ञादन्यत्र प्रयुज्यन्ते ते वै प्राजापत्याः परमेश्वर-देवताकाः' इति व्याख्यानं न तुच्छम् ।

४९६ किं देवतात्वे उत्कर्तृत्वं प्रयोजकं द्योतकञ्चोभयं न सम्भवति अननुगमात् ?

४९८ पूर्वं मन्त्रा एव देवता इति, इदानीं तु मन्त्राणां यद्दैवत्वमिति, तदेतत् किं मूलविरुद्धं विसङ्गतञ्च ?

४९८ किमिन्द्रियाणीव मन्त्रा अपि न यज्ञस्य साधकाः ?

४९९ नराणां प्रशंसा-करणात् नाराशंसो मनुष्यस्तुतिरूपो मन्त्र एवेति कथनं किं न युक्तम् ?

५०० मनुष्याणां देवत्व-प्रतिपादनम् ।

पृ०

५०१ (क) 'नहि मनुष्याः देवसंज्ञाः देवानां माहाभाग्यात् इत्यस्य खण्डनम् ।

(ख) किमग्नेः नहि द्युस्थानत्वं ? तस्य पृथिवीस्थानत्वात् ।

५०२ 'न तत्र सूर्यो भाति' इति कथनरीत्या परमेश्वर एवोपास्य इति कथनं किं न युक्तम् स्वामिनः ?

५०३ ईश्वरस्य सगुणनिर्गुण विवेचनम् ।

५०४ (क) किं 'नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्शत्' इत्यत्र इन्द्रियेषु मुख्यदेवत्वं न युज्यते ?

(ख) 'अर्शत्' इति पाठः किं न वाजसनेयः ?

५०५ गुणदोषकीर्तनं स्तुतिः इति कथनं तुच्छं किम् ?

५०६ 'परन्त्वयं नियमः कर्मकाण्डप्रत्यस्ति' इति कोऽयं नियमः ?

५०७ 'माहाभाग्याद् देवताया एक एवात्मा बहुधा स्तूयते' इति प्रमाणस्य प्रासङ्गिकता ।

५०९ किं देवाः कर्मणा जायन्ते ?

५११ 'परमात्मा एव सर्गकाले आत्मानं षोढा विभज्य जगद्भावमुपगच्छति' इत्यस्य खण्डनम् ।

५१२ क्वचिच्च परमेश्वरः क्वचिन् मन्त्राः क्वचिन् मनुष्याः देवतापद-वाच्याः, तत्किमिदमसङ्गतम् ?

५१४ भाष्यभूमिकायां त्रयस्त्रिंशद्देवतानां प्रतिपादनं किं शतपथ-वचन-विरुद्धम् ?

५१८ अथर्व मन्त्राभ्यां त्रियास्त्रद् देवानां प्रतिपादनमृबेः सुसङ्गतम् किम् ? इन्द्रपदस्य विद्युद्वाचकत्वं न सङ्गतम् ?

५१७ इन्द्रविषयक-भ्रान्ति-निवारणाय किञ्चिद् विशिष्ट प्रस्तावनम् ।

५२६ शचीपति शब्दस्य विशिष्टार्थाः ।

५२२ अग्निवायु चन्द्रादीनां पुरुषविधत्वं मन्त्रेषु काल्पनिकम् ।

५२३ 'स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते' इत्यस्य व्याख्यानमृषिर्न जानाति किम् ?

५२४ देवताप्रसङ्गे समुद्धृतानामथर्वमन्त्राणां प्रासङ्गिकता ।

पृ०

५२६ सगुणसाकारब्रह्मरूपेण परब्रह्माऽपि उपास्यते इति कथनं न सङ्गतम् किम् ?

५२७ देवशब्दे दिवुधातोः क्रीडा विजिगीषादयः किं सर्वेऽर्थाः सङ्गताः ।

५२८ देव शब्दस्य योगरूढत्व-खण्डनम् ।

५२९ देवशब्दस्य द्युति स्तुति मोद कान्ति ज्ञानादयः अर्थाः परमात्मनि यथावत् संगच्छन्ते अन्येषु तु यावन्मात्रया ।

५३० वेदेषु जडचेतनयोः पूजाभिधानाद् वेदाः संशयमापन्नाः इत्यस्य विचारः ।

५३५ शरीरादि-विभागापेक्षं कर्म, कर्मापेक्षं च शरीरादि, तदत्र, किं नान्योन्याश्रयदोषः ?

५३६ एकेश्वरोपसना-विधाने-प्रमाणानि ।

५३७ जडपदार्थेषु तदधिष्ठातृदेवोपासना-खण्डनम् ।

५३८ श्री दयानन्दस्य-'न 'ईश्वरातिरिक्तोऽन्य उपास्य' इति कथनं किं बाइबिल कुरानादि प्रभावितम् ?

५४३ सूर्याय अर्घ्यप्रदानं नेश्वरपूजनमित्यस्य समर्थनम् ।

५४६ मैक्समूलरादिरीत्या प्रतिपादितः विकासवादसिद्धान्तः दयानन्देन वेदेष्वारोपितः इत्यस्य खण्डनम् ।

५४७ यद्यपि ब्रह्मापरोक्षमेव तथाप्यनाद्यविद्यामायादि-योगेनापरोक्षमपि ब्रह्म परोक्षवदवभासते' इत्यस्याऽऽलोचनम् ।

५४८ नवीनवेदान्तमत-खण्डनम् ।

देवता-स्वरूप-निरूपणम्

५५० विग्रहमदविग्रहमददेवतास्वरूप विवेचनम् ।

५५१ यदाधारेण ईश्वरभिन्ना देवता अपि ईश्वरवत् पूज्याः मन्यन्ते तदाधार-खण्डनम् ।

५५२ जडदेवेषु चेतनवद्व्यवहार-कारण-व्याख्यानम् ।

ओ३म्

'वेदार्थ-कल्पद्रुमः'

'सरस्वती सह धीभिरस्तु'

ऋषीणां हृदयेष्वन्तः स्थितो भूताद्यनुग्रहात् ।
नित्यशब्दार्थसम्बन्धं ह्यनादिनिधनश्रुतिम् ॥१॥

प्राकाशयत् परब्रह्म, आदौ वेदचतुष्टयम् ।
काले काले यथाबुद्धि यद्भाष्यं रचितं बुधैः ॥२॥

भाष्येष्वपि परं केचिद्, निरुक्तादि-प्रदर्शिताम् ।
यौगिकीं पद्धतिं हित्वा, रूढिभाजोऽभवन् यदा ॥३॥

अदर्शयन् हि वेदेषु, इतिहासं च नश्वरम् ।
तदा दूषित-भाष्याणि, तदर्थं व्यधुरन्यथा ॥४॥

परो दयालुर्जन-शं-विधित्सया, श्रुति-प्रतिष्ठां पुनरुद्दिधीर्षुकः ।
ऋषिं दयानन्दसरस्वतीसुतं, प्रमोदलोकात् समनोदयद्धरिः ॥५॥

सुतार्किको दर्शनतत्त्वविज्ञः, सद्वेदराद्धान्तविवेकशीलः ।
समाययौ वैदिकधर्मवृद्ध्यै स्वामी दयानन्द-सरस्वतीऽड्यः ॥६॥

ऋषियों के हृदय में अन्तः स्थित परब्रह्म ने सृष्टि के आदि में प्राणियों पर अनुग्रहेच्छा से, नित्य शब्दार्थ सम्बन्धक, अनादिनिधन श्रवण वेद चतुष्ट्य का प्रकाश किया, जिनका भाष्य समय-समय पर यथामति विद्वानों ने किया ॥१-२॥

परन्तु भाष्य करने में कुछ लोग निरुक्तादि प्रदर्शित यौगिक पद्धति को छोड़कर जब रूढ़ि भाजी बन गये। तब वेदों में नश्वर इतिहास को दिखाते हुये दूषित-भाष्यों ने वेदार्थ को अन्यथा कर दिया ॥३-४॥

तब परम दयालु हरि ने जनकल्याण की विधित्सा से तथा वेदों की प्रतिष्ठा का पुनः उद्धरण करने की कामना से ऋषि दयानन्द सरस्वती रूपी सुत को स्वर्ग लोक से भूमि पर आने को प्रेरित किया ॥५॥

सुतार्किक दर्शन तत्त्वविद्, उत्तम वेदों के सिद्धान्तों के विवेचनशील, पूज्य स्वामी दयानन्द सरस्वती वैदिक धर्म के वर्धन के लिये आये ॥६॥